प्रकाशक
साधना-सदन,
प्रयाग।

२१ अगस्त, १९४२ ई०

पहली बार : ११००

मूल्य : ।।।)

मुद्रक
श्रीनाथदास अग्रवाल,
टाइम-टेबुल प्रेस,

राजनाथ को

जो आज हममें नहीं है, पर जिसे
वीरता और बलिदान की
कथाएँ भाती थीं

—'सुमन'—

मेरी बात

मेरा ख्याल है, लगभग १८ वर्ष हुए, गणेशजी (अब स्व० श्री गणेशशङ्कर विद्यार्थी) ने मुझसे राजपूतकाल की वीर-गाथाओं पर छोटी-छोटी कहानियों की एक पुस्तक लिखने को कहा था और स्वयं प्रताप प्रेस से उसे छापने की अपनी तत्परता भी प्रकट की थी।

लड़कपन से मेरा इस ओर आकर्षण है। इसलिए गणेश जी की आज्ञा मेरे लिए एक वरदान के समान आई। परन्तु दुनिया में वह सब कहाँ होता है जो हम चाहते हैं? मैं अनेक अन्य कामों में, आज यहाँ कल वहाँ, भटकता रहा। और-और चीज़ें लिखी गईं और प्रकाशित भी हुईं पर जो मन में था वह मन में ही रह गया। गणेशजी, एक आदर्श की लौ की तरह उठ कर, चले भी गये और चीज़ न बन पाई।

× × ×

१९३५ ई० में अकोला (मध्यप्रान्त) से साप्ताहिक 'नव-राज स्थान', मेरे सम्पादन में, निकला, तब मेरे अन्दर वह पुरानी इच्छा पुनः बलवती हुई। एक-एक करके ८-१० कहा-नियाँ लिखीं और प्रकाशित कीं पर आगे वह क्रम न चल सका, और १९३७ ई० में मुझे अकस्मात् पत्र का सम्पादन

छोड़कर दिल्ली चले जाना पड़ा। चीज़ वहीं रुक गई। आज भी वह रुकी ही है। पर जो कुछ उस समय लिखा था वह इतना पसन्द किया गया कि अब तक उसकी माँग है। इस-लिए उन वीर कथाओं और अपने कुछ अन्य स्फूर्तिप्रद शब्दचित्रों को मिलाकर मैं 'वेदी के फूल' आज प्रकाशित कर रहा हूँ।

ये कथाएँ—यदि कथाएँ इन्हें कहा जा सके—ऐसे ढङ्ग पर लिखी गई हैं कि इनमें कहीं साम्प्रदायिकता की गन्ध नहीं है—जिसकी सम्भावना मध्ययुगीन राजपूत गाथाओं को लिखते समय प्रायः रहती है। इनका ढाँचा और प्रणाली ऐसी है कि स्वदेश-प्रेम और त्याग की भावनाओं को बल मिलेगा। इससे आशा है कि पुस्तक युवकों और विद्यार्थियों के भी काम की होगी।

इन गाथाओं को न तो हम कहानियाँ कह सकते हैं, न शुद्ध गद्यकाव्य ही कह सकते हैं। इनमें दोनों का मिश्रण है। ये एक कहानी भी कहते हैं—पर चोला गद्यकाव्य का है। इन्हें एक प्रकार से 'कथागीत' कह सकते हैं। जो हो, मुझे आशा है कि पाठकों के लिए ये उपयोगी होंगे, और शायद वे इन्हें पसन्द भी करें।

—श्रीरामनाथ 'सुमन'

अनुक्रम

[१]

वेदी का फूल : ९

[२]

श्रद्धा के दो फूल : १३

[३]

प्रणय की दीप-शिखा—मीरा : ... १७

[४]

राठौड़ों का सिरताज : २३

[५]

मृत्यु की प्यास : २७

[६]

जौहर की ज्वाला में— : ३३

[७]

श्रेय की ओर ! : ३७

[८]

'मैं भूखी हूँ !' : ४१

[९]

मोह कैसा ? : ४५

[१०]

त्याग की एक कहानी : ५३

[११]

प्राणों की इस ज्वाला को देखो ! : ... ६१

[१२]

खोये और भूले हुए ! : ६७

[१३]

जीभ काट लो ! : ७५

[१४]

तुम्हें क्या दिखाई देता है ? : ... ८३

[१५]

उनका क्रिसमस : हमारी विजया : ... ८९

[१६]

आह्वान : ९३



: १ :

वेदी का फूल

—'निर्गुण'—

त्यागभूमि, माघ १९८६]

उस दिन देखा, सारी वाटिका में वह एक ही फूल था। एक कोने में, पत्तियों के वीच छिपा हुआ, चुपचाप विना किसी आशा के अपना काम कर रहा था। भौंरे आते, शहद की मक्खियाँ आतीं, नन्हें-नन्हें कीड़े आते, सबके लिए वह अपना भाण्डार खोल देता। उसके दिल का दरवाज़ा सबके लिए खुला था—उसमें एक नहीं समा सकता था क्योंकि उसमें सबके समाने की जगह थी। वह अपना सौरभ लुटा रहा था। उसने अपना वह छोटा-सा जीवन सबके हित के लिए निछावर कर दिया था!

मुझे बड़ी जल्दी थी। गाड़ी की सीटी सुनाई पड़ रही थी—आँख उठाकर देखा, साथी स्टेशन की ओर दौड़े जा रहे हैं। मुझे भी जाना था पर आँखें उस फूल पर लगी थीं—दिल मानता न था, पैर उठते नहीं थे। उसी को देखता रह गया!

थोड़ी देर वाद, चक्कर काटकर, जब मैं लौटा तो देखा कि वह फूल तोड़कर देव के चरणों में समर्पित कर दिया गया है। उसकी दो-चार पँखुरियाँ इधर-उधर टूटी पड़ी हैं फिर

भी उपासना की वेदी पर छिन्न-भिन्न पड़ा हुआ वह कितना सुन्दर और कितना पूर्ण लगता था! उसके जीवन में जो कुछ था, देवता का, पृथ्वी-माता का, था! उसने उसका मोह नहीं किया; उसे हँसते-हँसते, खिल-खिलकर देवता के ही चरणों पर चढ़ा दिया!

वह लाल-लाल बलिदान का फूल कैसा भोला था! उसने जीवन के उत्सर्ग में जीवन का स्वाद पा लिया। अपनी उन टूटी पँखुरियों के बीच भी, सिमटा हुआ वह कैसा हँस रहा था! इस हँसी में अभिमान न था, उपेक्षा न थी, मृत्यु का आभास न था—यह वह हँसी थी जो सहज-त्यागी के ही ओठों पर खिलती है!

पर यदि हम देखने की चेष्टा करें तो देख सकते हैं कि इस विश्व-उपवन में मनुष्य भी, ऐसा ही, फूल बनकर खिल सकता है! विश्व कलह से, गरीबी से, दुःख-दैन्य से छटपटा रहा है फिर भी हम आत्म-वञ्चना के विष को पीने के लिए दौड़ पड़ते हैं। पास ही अमृत का प्याला पड़ा है, पर जीवन का क्षुद्र मोह उसे पीने नहीं देता। शरीर-सुख का भाव ऐसा चढ़ गया है कि उसमें हम अपने जीवन का सत्व ही नष्ट कर देते हैं और यों न अपनी रक्षा कर पाते हैं, न अपना विकास! हम रोते पैदा होते हैं और रोते ही रोते, अपने को, अपनी किस्मत को और दुनिया को गालियाँ देते-देते

उस दिन देखा, सारी वाटिका में वह एक ही फूल था। एक कोने में, पत्तियों के बीच छिपा हुआ, चुपचाप बिना किसी आशा के अपना काम कर रहा था। भौंरे आते, शहद की मक्खियाँ आतीं, नन्हें-नन्हें कीड़े आते, सबके लिए वह अपना भाण्डार खोल देता। उसके दिल का दरवाज़ा सबके लिए खुला था—उसमें एक नहीं समा सकता था क्योंकि उसमें सबके समाने की जगह थी। वह अपना सौरभ लुटा रहा था। उसने अपना वह छोटा-सा जीवन सबके हित के लिए निछावर कर दिया था !

मुझे बड़ी जल्दी थी। गाड़ी की सीटी सुनाई पड़ रही थी—आँख उठाकर देखा, साथी स्टेशन की ओर दौड़े जा रहे हैं। मुझे भी जाना था पर आँखें उस फूल पर लगी थीं—दिल मानता न था, पैर उठते नहीं थे। उसी को देखता रह गया !

थोड़ी देर बाद, चक्कर काटकर, जब मैं लौटा तो देखा कि वह फूल तोड़कर देव के चरणों में समर्पित कर दिया गया है। उसकी दो-चार पँखुरियाँ इधर-उधर टूटी पड़ी हैं फिर

भी उपासना की वेदी पर छिन्न-भिन्न पड़ा हुआ वह कितना सुन्दर और कितना पूर्ण लगता था ! उसके जीवन में जो कुछ था, देवता का, पृथ्वी-माता का, था ! उसने उसका मोह नहीं किया; उसे हँसते-हँसते, खिल-खिलकर देवता के ही चरणों पर चढ़ा दिया !

वह लाल-लाल बलिदान का फूल कैसा भोला था ! उसने जीवन के उत्सर्ग में जीवन का स्वाद पा लिया। अपनी उन टूटी पँखुरियों के बीच भी, सिमटा हुआ वह कैसा हँस रहा था ! इस हँसी में अभिमान न था, उपेक्षा न थी, मृत्यु का आभास न था—यह वह हँसी थी जो सहज-त्यागी के ही ओठों पर खिलती है !

पर यदि हम देखने की चेष्टा करें तो देख सकते हैं कि इस विश्व-उपवन में मनुष्य भी, ऐसा ही, फूल बनकर खिल सकता है ! विश्व कलह से, गरीबी से, दुःख-दैन्य से छटपटा रहा है फिर भी हम आत्म-वञ्चना के विष को पीने के लिए दौड़ पड़ते हैं। पास ही अमृत का प्याला पड़ा है, पर जीवन का क्षुद्र मोह उसे पीने नहीं देता। शरीर-सुख का भाव ऐसा बढ़ गया है कि उसमें हम अपने जीवन का सत्व ही नष्ट कर देते हैं और यों न अपनी रक्षा कर पाते हैं, न अपना विकास ! हम रोते पैदा होते हैं और रोते ही रोते, अपने को, अपनी किस्मत को और दुनिया को गालियाँ देते-देते

एक दिन आँखें मूँद लेते हैं। ऐसी दुनिया में, मृत्यु के भय से पीड़ित ऐसे जगत् में, मेरी आँखों के सामने, चिनगारी की भाँति आज वह वेदी का फूल चमक रहा है! देश की तड़पती हुई आत्मा आवाहन कर रही है। बिजली चमक रही है। इस अँधेरी रात में पूजा की थाली लिये एक बूढ़ा तपस्वी देव-मन्दिर की ओर चला जा रहा है! थाली में फूल बहुत थोड़े हैं। वह सामने मन्दिर है—देवता के चरणों में पूजा की प्यासी वेदी दूर तक फैली हुई है! सोचता हूँ, इस वेदी पर उस दिन का वह फूल कितना अच्छा लगता! पर उसके जैसा हृदय कितने आदमियों में मौजूद है! पूजा की घण्टी बज चुकी है;—तपस्वी शीघ्र ही देवता के चरणों में अर्घ्य देगा। आज वह फूल याद आ रहा है! माँ की लाज आज कौन बचावेगा? क्या पूजा सूनी रहेगी; क्या मन्दिर खाली रहेगा? वेदी पुकार रही है—तपस्वी उत्सुक आँखों से देख रहा है! आज मन कैसा हो रहा है,—कैसी हलचल मची हुई है—कैसा तूफान आ रहा है—ऐसे समय हे देश की, हे मनुष्यता की आशा भाई-बहनो, तुममें कौन और कितने हँसते-हँसते 'वेदी का वह फूल' बनने को तैयार हैं? मेरा मन तो करता है कि आज थाली की इस पहली भेंट में ही मिलकर उस फूल की तरह देवता के चरणों में चू पड़ूँ!

: २ :

श्रद्धा के दो फूल

८ फरवरी, १९३५]

आज, जब हमें, प्रभु की कृपा से, भारत के इतिहास को अपने त्याग एवं शौर्य की अगणित कहानियाँ भेंट करनेवाले, पर आज सुप्त और मूर्छित, राजस्थान के सम्बन्ध में कुछ लिखने का किञ्चित् अवसर मिला है तब स्वभावतः हमारे स्मृति-पट पर राजस्थान के उस राष्ट्र-देवता राणा प्रताप की मूर्ति अङ्कित है। उस प्रताप की, जिसमें एक आग थी, एक दीवानापन था; अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए एक प्रकार की विस्मृति थी—वह विस्मृति, जो बाधाओं को, परिस्थितियों को, कठिनाइयों को नहीं देखती, न देखना चाहती है; जो हृदय में उठनेवाली चिनगारियों के साथ ही व्यक्ति को भी बहुत ऊँचा, बहुत दूर लेजाना चाहती है। प्रताप में अपने ध्येय के लिए एक नैतिक—एक मानसिक नशा था;—वह नशा जो जब चढ़ता है तो जीवन-भर रहता है। वह आज़ादी का दीवाना था; आत्म-सम्मान का पुतला था।

प्रताप का जीवन महान् इसलिए नहीं है कि उसने अकबर-जैसे शत्रु के दाँत खट्टे कर दिये; प्रताप की महानता अपने निश्चित ध्येय के प्रति उनकी उस लगन में है, जो

दिन-रात, सुख-दुःख नहीं देखती और सदैव अपने लक्ष्य की ओर जागरूक रहती है। प्रताप की महत्ता एक निश्चित् उद्देश्य के लिए अपना जीवन अर्पण कर देने में है। उनकी महत्ता उस दृढ़ निश्चय में है जो केवल अपना काम करना चाहता है, सफलता-असफलता का अङ्कगणित नहीं जानता।

आज जब हमारे सामने सेवा का महान् राज-मार्ग फैला हुआ है और जब समाज की त्रस्त एवं बन्धनों में जकड़ी शक्तियाँ हमारी मनुष्यता से साहस की भीख माँगती हैं; जब हमारे चारों ओर एक विशृंखल समाज, जिसकी शक्तियाँ महान हैं, जिसका अतीत अन्धकार में चमकता है, फैला हुआ हमारे सेवा-भाव को, हमारे साहस को, हमारे आत्मोत्सर्ग को चुनौती देता है, तब उस महावीर से हम कुछ सीखना चाहते हैं। हम उनसे उनका वह तीक्ष्ण भाला ग्रहण करना नहीं चाहते जो कभी शत्रु-सेनापति की अम्बारी से टकराता था तो कभी किसी आक्रमणकारी के कलेजे में घुसकर अपनी प्यास बुझाता था। हम तो आज उनकी उस लगन, उस पागलपन, उस दृढ़ता को ग्रहण करना चाहते हैं जो आदि से अन्त तक उनके जीवन में ओतप्रोत है और जो हमारे सामने आत्मोत्सर्ग का वह आदर्श रखता है जिसके बिना कोई सेवा, कोई सुधार, कोई महान् कार्य सम्भव नहीं है।

और आज जब समाज की, देश की, संसार की अवस्था

विषम हो गई है; जब मनुष्य संस्कारों के असाधारण संक्रान्ति-काल से गुज़र रहा है और जब चारों ओर स्वार्थों के सङ्घर्ष का कोलाहल है; जब हमारी दिन-दिन जटिलता की ओर बढ़ती हुई समस्याएँ एक साहसी सुधारक को भी निराश कर देती हैं तब हमें लगन और आत्मोत्सर्ग की उस ज्वाला की सबसे अधिक आवश्यकता है जो चारो ओर के अन्धकार को भेदकर हमारे मानसिक क्षितिज पर जल उठे और तब तक जलती और प्रकाश देती रहे जब तक नीचे गिरानेवाले बन्धनों की कड़ियाँ जल कर राख न हो जायँ और हम न केवल संसार की जातियों एवं राष्ट्रों के बीच सिर उठाकर खड़े हो सकें वरन् मानवजाति को अपनी संस्कृति का सन्देश भी दे सकें और त्रस्त मानवता का पथ-प्रदर्शन भी कर सकें।

आकांक्षा बड़ी है पर प्रभु की कृपा उससे भी बड़ी है और जो आत्मार्पण का रहस्य जानते हैं यह भी जानते हैं कि जिसमें वेदी पर सब कुछ चढ़ा देने की तड़प हो उसके लिए काँटे भी फूल हो जाते हैं!

ओ, राजस्थान की समाधि पर सतत जलनेवाली दीप-शिखा, आज हमें वह प्रकाश दे कि हम समाज की रूढ़ियों के अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दें और अगली सन्तति के लिए आत्मोत्सर्ग की एक मूल्यवान विरासत छोड़ जायँ।

: ३ :

प्रणाय की दीप-शिखा मीरा

१५ फरवरी, १९३५]

आत्मार्पण, इस एक शब्द में राजस्थान के इतिहास को रखा जा सकता है। मरने की, जीने के लिए मरने की आग सदा राजस्थान में प्रज्वलित रही। हँस-हँस कर मृत्यु से खेलनेवाली ऐसी दूसरी जाति संसार के इतिहास में न हुई होगी। निमन्त्रण दे-देकर वे लड़ते थे, जैसे जीवन का सारा आनन्द उन्हें इसमें ही मिला हो।

जो आत्मार्पण आग की तरह ज़रा तीखा होकर, इन पुरुष-सिंहों में जला था, वही राजपूत नारियों में पति-परायणता की पराकाष्ठा के रूप में व्यक्त हुआ था। उनका वह हँसते-हँसते, शृंगार करके जल मरना, पुरुषों की वीरता को लज्जित करता है। यहाँ भी नारी ने पुरुष को पराजित किया है और आत्मोत्सर्ग के क्षेत्र में उसका पथ-प्रदर्शन किया है।

और राजस्थान की रक्त से भरी वीरता की आँधी में मीरा सत् की एक कभी न बुझनेवाली ज्योति की तरह अचल है। राजसिक त्याग के इस ढेर पर वह सात्विक त्याग की दीप-शिखा के रूप में हमारे सामने आती है। राजस्थान की वीर देह के बीच वह राजस्थान की आत्मा है। वह धीरे-धीरे,

तिल-तिल जलने और प्राण होमने का आदर्श हमारे सामने रखती है। उसमें हमारे प्राण बोलते हैं; उसमें हमारा जीवन हँसता है; उसमें हमारी व्यथा रोती है!

और मीरा, जिसका जीवन प्रियतम के बिना चल नहीं सकता और जिसने अपना सर्वस्व प्रेम की वेदी पर रख दिया है, इस मोह और वासना की आँधी में हमें बताती है— प्रेम करना और प्रेम के लिए अपने को जलाना। मीरा क्या है? प्रेम की जीवनव्यापी साधना। मीरा है वह आत्मा, जो अपने प्रियतम के लिए, अपने लक्ष्य के लिए विकल है; जिसे एक घड़ी बिना उसके चैन नहीं और जो उसे प्राप्त करेगी या जीवन दे देगी। वह वागेश्वरी, जिसने एक दिन उसकी आत्मा की तड़प से निकलकर वातावरण को कम्पित एवं ध्वनित किया था, आज भी सहस्रों कण्ठों और शत-शत प्राणों से निकलती है:—

घड़ी एक नहिं आवड़े रे, तुम दरसन बिण मोय।
तुम हो मेरे प्राण जी, कैसूँ जीवण होय!
दिवस तो खाय गमाइया रे, रैण गमाई सोय।
प्राण गमाया झूरतां रे, नैण गमाई रोय!
घायल-सी घूमत फिरूँ रे, मेरो दरद न जाणे कोय॥

यह मीठा दर्द, जिसे कोई जानता नहीं, कोई समझता नहीं, राजस्थान को मीरा की देन है। उस दर्द के स्वाद में

वह घायल-सी घूमती फिरती है; आँखों से आँसू बह रहे हैं; प्राणों में दर्शन की उत्कण्ठा भरी हुई है; जिह्वा पर उसी का नाम है; कानों में उसी का श्रुति-मधुर स्वर है; एकतारा में उसी का राग ध्वनित हो रहा है। जीवन सतत उसी एक मार्ग से चल रहा है; एक केन्द्र-विन्दु में निमग्न है। उसे एक घड़ी विश्राम नहीं। जीवन का प्रत्येक कण प्रेम के अमृत से भीग गया है; उसने फैलकर, जो कुछ मीरा का अपना था, सबको ढक लिया है। यहाँ विश्राम कहाँ? यहाँ तो चिरजागृति है—

सूली ऊपर सेज हमारी, सोणो क्याँ विध होय ?

सूली की सेज पर मीरा अनिद्रित नेत्रों से प्रियतम की चिर-प्रतीक्षा में निमग्न है। पिया की सेज तो गगन-मण्डल पर है। इन दोनों का अन्तर कैसे नष्ट हो, यही प्रेम की साधना है। इसी साधना में मीरा निरत है। उसके मन-प्राण सबमें वही रस बह रहा है। यह वह प्रेम है जिसे पाने के बाद पाने को कुछ रह नहीं जाता; यह वह व्यथा है जो जलाकर भी अमर करती है। जिसमें मिट जाना ही सुख है; जलना ही जीवन है; डूबना ही उभरना है!

प्रेम की यह साधना ही जीवन की भी साधना है। लक्ष्य के प्रति वह विकलता जो उसके प्राप्त होने तक हमें सदा बेचैन और घायल रखती है; उसके लिए आत्म-निमज्जन का वह भाव जिसमें दुनिया में और जो कुछ है, भूल जाता है;

बाहर आकर्षण के लिए, मन को डाँवाडोल करने के लिए कुछ नहीं रह जाता; आत्मार्पण एवं आत्मोत्सर्ग, जिसके बिना कोई साधना चल नहीं सकती और कोई लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता; जिसके बिना जीवन अधूरा है और सब कुछ दे देने में जो कभी न बुझनेवाला एक सुख है उससे शून्य है। यही तो जीवन का आदर्श है और इसके बिना मनुष्य में रह क्या जाता है ?)

लक्ष्य के लिए यही विकलता प्रताप में अग्नि के रूप में प्रज्वलित हुई थी और यही विकलता, उससे भी श्रेष्ठ एवं मधुर बनकर मीरा में जीवन की चाँदनी के रूप में प्रकट हुई। मीरा का वह हृदय का दर्द, वह विकलता जो तोड़ी नहीं जा सकती और जिसकी वैद्य के पास दवा नहीं; वह विकलता जो मीरा के प्राणों से उसी के उस आग्रह-भरे गान में व्यक्त हुई है:—

नातो नाम को जी, म्हाँसूँ तनक न तोड्यो जाय।
पाना-ज्यूँ पीली पड़ी रे, लोग कहैं पिंड रोग।
छाने लांघण मैं कियो री, राम मिलन के जोग ॥नातो०॥
बावल वैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारी बाँह।
मूरख वैद मरम नहिं जाणै, कसक कलेजे माँह ॥नातो०॥
जाओ वैद घर आपणे रे, म्हारो नाम न लेय।
मैं तो दाधी विरह की रे, काहे कूँ औषध देय ॥नातो०॥
मांस गल-गल छीजिया रे, करक रह्या गल माँह।
आंगलिया री मूंदड़ी म्हारे, आवण लागी बाँह ॥नातो०॥

रह रह पापी पपीहरा रे, पिव को नाम न लेय।
जो कोइ विरहिण साम्हले तो, पिव कारण जिव देय ।।नातो०।।
छिन मंदिर छिन आंगणे रे, छिन-छिन ठाढ़ी होय।
घायल-सी भूमूँ खड़ी रे, म्हारी व्यथा न बूझै कोय ।।नातो०।।
काढ़ कलेजो मैं धरूँ रे, कौआ तू लै जाय।
ज्यां देशां म्हारो हरि बसै रे, वाँ देखत तू खाय ।।नातो०।।
म्हारो नातो राम को रे, और न नातो कोय।
मीरां व्याकुल विरहिणी रे, दर्शन दीज्यो मोय ।।नातो०।।

आज हमारे मन में स्वप्न बनकर आ रही है। आज वह विकलता यदि हमारे मन प्राण में बस जाय; यदि आत्मोत्सर्ग और आत्मार्पण की वह साधना हमारे अन्दर जग उठे, यदि लक्ष्य के प्रति विरह-व्यथा से हमारा हृदय भर जाय और हममें वह बेचैनी, वह अधीरता आवे जो मीरा में थी तो हमारा जीवन धन्य हो।

ओ राजस्थान की आत्मा मीरा, ओ प्रणय के पथ की चिर-यात्री योगिनी, ओ जीवन को तिल-तिल जलाकर हमें प्रेम और त्याग का प्रकाश देनेवाली दीप-शिखा! तेरी स्मृति में हमारा मस्तक नत है; तेरे अमृत से हमारे प्राण भींगे हुए हैं। तू हमें मनुष्यता का वह गौरव प्रदान कर कि हम तेरी थाती को सुरक्षित रख सकें।

: ४ :

राठौड़ों का सिरताज : दुर्गादास

२२ फरवरी, १९३५]

रह रह पापी पपीहरा रे, पिव को नाम न लेय।
जो कोइ विरहिण साम्हले तो, पिव कारण जिव देय ।।नातो०।।
छिन मंदिर छिन आंगणे रे, छिन-छिन ठाढ़ी होय।
घायल-सी भूमूँ खड़ी रे, म्हारी व्यथा न बूझै कोय ।।नातो०।।
काढ़ कलेजो मैं धरूँ रे, कौआ तू लै जाय।
ज्यां देशां म्हारो हरि बसै रे, वाँ देखत तू खाय ।।नातो०।।
म्हारो नातो राम को रे, और न नातो कोय।
मीरां व्याकुल विरहिणी रे, दर्शन दीज्यो मोय ।।नातो०।।

आज हमारे मन में स्वप्न बनकर आ रही है। आज वह विकलता यदि हमारे मन प्राण में बस जाय; यदि आत्मोत्सर्ग और आत्मार्पण की वह साधना हमारे अन्दर जग उठे, यदि लक्ष्य के प्रति विरह-व्यथा से हमारा हृदय भर जाय और हममें वह बेचैनी, वह अधीरता आवे जो मीरा में थी तो हमारा जीवन धन्य हो।

ओ राजस्थान की आत्मा मीरा, ओ प्रणय के पथ की चिर-यात्री योगिनी, ओ जीवन को तिल-तिल जलाकर हमें प्रेम और त्याग का प्रकाश देनेवाली दीप-शिखा! तेरी स्मृति में हमारा मस्तक नत है; तेरे अमृत से हमारे प्राण भींगे हुए हैं। तू हमें मनुष्यता का वह गौरव प्रदान कर कि हम तेरी थाती को सुरक्षित रख सकें।

: ४ :

राठौड़ों का सिरताज : दुर्गादास

२२ फरवरी, १६३५]

राठौर राज-वंश के इतिहास में बिजली के एक प्रवाह की भाँति, दुर्गादास आते हैं। राजपूतों में जो एक बात न थी, वह भी दुर्गादास में थी। वह राजपूतों में व्यक्तिगत शौर्य से ऊपर उठे थे और उनमें पहली बार हम राजस्थान के शौर्य के साथ, राजस्थान के विवेक की, राजस्थान की नीतिमत्ता की भी झलक पाते हैं।

अरावली की उन सघन गुफाओं में राजकुमार को लिये हुए, सतत जागरूक दुर्गादास को हम देखते हैं। उसकी तलवार म्यान से बाहर और अपने स्वामी की रक्षा के लिए सदा सचेष्ट है। उसके मस्तक पर जन्मभूमि की गौरव-रक्षा की गहरी चिन्ता-रेखाएँ हैं। उसकी पद-गति में सम्भ्रम का लय है। वह दिल्ली के शासकों की कूटनीति को व्यर्थ करके रहेगा। जबतक वह जीता है, राठौड़ वंश उसकी छाया तले सुरक्षित है। यह वह थाती है जो युग-युग से उसके रक्त में एकत्र होनेवाले स्वाभिमान को, स्वतन्त्रता की भावना को, जीवन के तेज को सौंपी गई है। पंच-हजारी मनसब का प्रलोभन उसे छीन नहीं सकता; सुख और विलास की इच्छाएँ

उसे भुला नहीं सकतीं। प्रलोभनों की आँधी में, सती के तेज की तरह, उसकी शक्ति, उसका विश्वास अचल है।

उसकी वीरता में कृपणता न थी; वह उदार और मुक्त थी। शत्रुओं के साथ क्रूरता के कलङ्क से, भारत के इतिहास के भी अनेक वीर कलुषित हुए हैं पर दुर्गादास की शत्रुता किसी जाति-विशेष से न थी वरन् साम्राज्यवादी शासकों की उस कूटनीति से थी, जो कभी तृप्ति नहीं जानती और जो सदा दूसरों को पराजित एवं अपमानित करने के लिए विकल रहती है। इसीलिए वह अपने शत्रु औरंगज़ेब के पुत्रों के प्रति उदारता एवं सहानुभूति करना कभी न भूला।

राठौड़ों में दुर्गादास का नाम हमारे सामने पहले आता है। इसलिए कि उसमें साहस, शौर्य, त्याग, नीतिमत्ता, स्वामिभक्ति इत्यादि राजपूत जाति के सब गुणों का हम एकत्र दर्शन पाते हैं। युद्ध में जब वह प्रवेश करता तो यहाँ गया, वहाँ गया, कहाँ गया—कोई जान न पाता था। अभी शत्रु-पक्ष की सेना के पार्श्व भाग पर बिजली टूटी और जबतक वह दल होश सँभाले, दक्षिण भाग में भगदड़ पड़ जाती थी। राजस्थान के इतिहास में थोड़े ही ऐसे अश्वारोही हुए हैं। एक हुंकार हुई और राठौड़ों की पताका आगे निकल गई।

दुर्गादास की महत्ता तब समझ में आती है, जब हम इसका विचार करते हैं कि न केवल एक सुखी एवं समृद्धिपूर्ण

शान्त जीवन बिताना उसके हाथ में था, वरन् राठौड़ों की गद्दी भी उसकी मुट्ठी में थी। तुच्छ एवं दुर्बल हृदय लोग उसे कदाचित् मूर्ख भी कहें पर जो शक्तियाँ और जो भावनाएँ मनुष्य को उठाती हैं और जिनके कारण इतिहास आदर्शों से अनुप्राणित होता है, उनकी परीक्षा ऐसे ही कठिन अवसरों पर होती है। यदि दुर्गादास ने सिर झुका दिया होता तो वह राजा होता पर जिस दुर्गादास की राजस्थान के इतिहास-मन्दिर में देवता की भाँति प्रतिष्ठा हुई है वह मर गया होता। आज तो वह मरकर भी जीवित है!

प्रताप, मीरा, दुर्गादास सबमें आत्मोत्सर्ग की वही शृंखला चली आई है। बन्धनों को तोड़कर बाहर निकलने की वही वेदना है। इस मुक्ति-यज्ञ में सब कुछ अर्पण करने का वही भाव है और जबतक लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, तबतक रात-दिन, सोते-जागते, उठते-बैठते कभी निराशा न जानने वाली वही लगन है। इन्हीं से जीवन की वेदी खिलती है और हमारे जीवन उन आदर्शों से अनुप्राणित होते हैं जो इतिहास के पन्नों में व्यक्त हुए हैं।

इसीलिए राजपूतों की नीति, प्रकार एवं साधना में अन्तर होते हुए भी, हम उनकी स्वाधीनता की लगन को ग्रहण करना चाहते हैं। और इस पथ पर चलते हुए, दुर्गादास की स्मृति में श्रद्धा के दो फूल रखते हैं।

: ५ :

मृत्यु की प्यास

१४ मार्च, १६३५]

: ५ :

मृत्यु की प्यास

१४ मार्च, १९३५]

देखी गई ? मृत्यु की बेल में प्रतिद्वंद्विता का, होड़ का वह कैसा जीवन-पुष्प खिला था।

किले पर सम्राट का अधिकार हो गया था। मेवाड़ की वनस्थली शत्रु के आतङ्क से काँपती थी। पर राजपूत हताश न थे। राजपूत ने तो सदा मरना ही सीखा, उसी का सदा आह्वान किया, जीने के लिए जीना उसने कभी न जाना— फिर वह हताश क्यों होता ? सब दलों के राजपूत वीर एकत्र हुए। 'चूँड़ावत'* और 'शक्तावत'† दल के वे वीर भी, जिनके कारण मेवाड़ वह रहा जो राजस्थान का दूसरा कोई भाग कभी रह न सका।

पर सवाल यह खड़ा हो गया कि मौत के इस कारवान का नेतृत्व कौन करे ? मरण में नेतृत्व, यही तो राजपूत का धन है। उसने मृत्यु से भागना कभी न जाना; और पीछे से निष्क्रिय, सत्त्वहीन मरण आकर निगल ले इसकी जगह सदा उसने रणभूमि के हुङ्कारों और झनकारों के बीच, सामने से मृत्यु को चुनौती देना सीखा। शय्या-मृत्यु को राजपूत ने सदा घृणा और तिरस्कार से देखा और जब युद्ध स्वयं न

* चूँड़ावत—चित्तौड़ के एक राजा के ज्येष्ठ पुत्र चूँड़ा अथवा उनके वंश के दलवाले चूँड़ावत कहलाये।

† शक्तावत—राणा प्रताप के भाई शक्तसिंह या उनके वंशजों के दलवाले शक्तावत कहलाये।

आता तो किसी परिचित को निमन्त्रण देकर उसीके साथ वह लड़ मरता था।

चूँड़ावतों का कहना था कि सेना के आगे हम रहेंगे; शक्तावतों का दावा था कि हम मरने में किससे पीछे? राणा ने मौका सँभाल लिया। बोले, भई जो शत्रु-द्वारा अधिकृत किले में पहले प्रवेश करे उसी को आगे सेना में अग्रस्थान दिया जाय। इससे दोनों की हौंस पूरी होती थी; दोनों ने इसे मंजूर कर लिया।

मेवाड़ की दुर्गम तलहटी में सिर उठाये हुए वह दुर्ग राजपूतों की वीरता को चुनौती दे रहा था। यह दुर्ग अपने समय में प्रान्त के अत्यन्त दृढ़, प्रायः अजेय, दुर्गों में समझा जाता था। अनेक आक्रमणकारियों का साहस उसके आगे टूट चुका था। दुर्ग की दीवारें बहुत दृढ़ एवं ऊँची थीं। और प्राचीर के चारों ओर एक गहरी नदी बहती थी। दुर्ग में प्रवेश करने का एक ही मार्ग था—उसका सिंहद्वार। यह द्वार लोहे के अत्यन्त शक्तिमान कपाटों से बना था जिनमें लोहे के तीक्ष्ण काँटे लगे हुए थे।

शक्तावत और चूँड़ावत दोनों ने दुर्ग में पहले प्रवेश करने का दृढ़ निश्चय करके प्रस्थान किया। दोनों रण-रङ्ग में डूब रहे थे। मौत एक खेल हो गई थी। दिल उछल रहे थे कि मृत्यु के वरण में कौन सफल होता है। शक्तावत बड़े

तड़के दुर्ग-द्वार पर पहुँच गये और युद्ध करने लगे। उधर चूँड़ावत नदी पार करके दुर्ग की ओर आरहे थे। उनके साथ दीवार पर चढ़ने के लिए काठ की एक सीढ़ी भी थी। शक्तावतों के पास ऊपर चढ़ने का कोई साधन न था। इसलिए चिन्तित हो उन्होंने हाथी को द्वार पर धक्का देने के लिए आगे चढ़ाया। पर कपाटों में तीक्ष्ण काँटे थे अतः हाथी चीख़ कर पीछे हट गया। उधर चूँड़ावत दीवार पर सीढ़ी से चढ़ने की तैयारी कर रहे थे। शक्तावत सरदार ने यह देख झट अपना सीना कपाटों के तीक्ष्ण शूलों पर लगा दिया और महावत को आज्ञा दी कि धक्का दो। महावत ने आज्ञा का पालन किया। धक्का लगते ही दरवाजा टूट गया। उधर दीवार पर चढ़ने के प्रयत्न में चूँड़ावत सरदार को गोली लग गई थी और वे आहत होकर गिर गये थे। चूँड़ावत सैनिकों ने देखा कि शेखावतों ने बाजी मार ली इसलिए उनके सरदार रावत जेतसिंह ने ज़मीन पर पड़े-पड़े आज्ञा दी कि मेरा सिर काटकर झट किले में फेंक दो। ऐसा ही किया गया और चूँड़ावतों को सेना में अग्रस्थान मिला। और तबसे वे बराबर मेवाड़ की सेना का नेतृत्व करते रहे—तबतक जबतक कि मेवाड़ के पास अपने दिन और अपनी रातें थीं और जब तक मेवाड़ मेवाड़ था। आज तो उसका शवमात्र रह गया है!

हमें यह समझ में नहीं आता कि इनमें विजयी किसको

कहें ? यहाँ तो पराजय में भी विजय का फूल खिला है और मृत्यु में भी जीवन का सौरभ है।—बल्कि मृत्यु यहाँ जीवन ही बन गई है। या मृत्यु में ही जीवन को सिद्धि प्राप्त हुई है। पर हमें वह बेचैनी, वह दीवानापन, वह शहादत देखकर हैरत है। मृत्यु की इस प्रतियोगिता ने राजस्थान के इतिहास के पन्नों में जीवन का अमर मन्त्र लिख दिया है। कैसी थी वह मृत्यु की प्यास जिसको जीवन हँस-हँसकर पीता था; उछलता था और पीता था; गाता था और पीता था; नाचता था और पीता था !

: ६ :

जौहर की ज्वाला में—

२८ मार्च, १९३५]

मृत्यु में जीवन को हँसते हुए आपने देखा है ? विष में अमृत के घूँट आपने पिये हैं ? आग में जलते हुए शीतलता का अनुभव आपने किया है ? हो सकता है 'नहीं', हो सकता है—'हाँ'। पर राजस्थान की उत्तप्त बालुका-भूमि पर एक दिन जो होली धू-धू करके जल उठी थी, वह इन प्रश्नों का स्वीकारात्मक उत्तर माँगती है। अपने तब के एक स्वाभाविक त्याग, पर आज इतिहास के पन्नों में कुतूहल की वस्तु मात्र, में राजस्थान ने देखा नारी का वह तेज, जो नारी का ही था और जो नारी में ही प्रकट हो सकता है पर जिसे आज नारी भूल गई है।

भारतीय इतिहास माताओं और बहनों के त्याग से उज्ज्वल है। पर राजस्थान की उन नारियों का सतीत्व, जो जौहर की ज्वाला में प्रकट हुआ था, मनुष्येतर है। जलती हुई ज्वाला की लपटों के बीच शृङ्गार करके जो नारी यों बैठी हो जैसे प्रियतम से मिलने को उत्कण्ठित नव-वधू, उसको देवी कहें या मानवी ? वस्तुतः यह मृत्यु में जीवन की चरम साधना थी ! इसके द्वारा इस नाशमान और अस्थिर देह में उसने अमृत-तत्व को प्रकाशित किया था।

शत-शत नारियों ने जौहर की ज्वाला में आत्म-दान किया है। मार कर मरना सरल है; उसमें बदले का एक नशा होता है जो अपने चारों ओर के खतरे को नहीं देखता और जो खून पीने को उतावला है। पर हँसते-हँसते अपनी इच्छा से, जल-जलकर मरना! इसमें त्याग की सीमा है।

इस जौहर की ज्वाला के प्रकाश में राजस्थान ने नारी-आत्मा की वह छाया देखी थी जो और कहीं दिखाई न पड़ी और जो विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। जब पुरुष उछलते और खेलते हुए तलवारों और भालों के रण-नृत्य में निमग्न होते, वहनें अपने सोहाग को अचल रखने के लिये हँसती और खेलती हुई चिता में प्रवेश करतीं,—फूलों-सा जिनका शरीर था, पर फौलाद-सी जिनकी छाती थी। जब पुरुष मारते थे; तब स्त्रियाँ मरती थीं। मारना वहुतेरे जानते हैं; मरना जाननेवाले सभी युगों में थोड़े हुए हैं। मारना सरल है; मरना कठिन है!

राजस्थान का कोई प्रदेश ऐसा नहीं जो वीरों के हुंकार से कम्पित न हुआ हो; जहाँ तलवारें चमकी न हों; जहाँ की भूमि ने रक्त से अपनी प्यास न वुझाई हो; जहाँ जीवन हँसा न हो। इस वीर भूमि के किस टुकड़े को हम लें, किसे छोड़ दें? वह हजारों युद्धों से कम्पित एवं उल्लसित हुई है पर उसकी सच्ची महिमा तो उन सतियों के देवलों में प्रकाशित है

जो जौहर की लपटों के साथ उठीं और जिनके शव-भस्म पर इस त्यागभूमि का खँडहर आज भी खड़ा विश्व के इतिहास को चुनौती देता है। संसार में ऐसे बहुत हुए, जिनमें जीवन का अट्टहास प्रकट हुआ पर ये देवियाँ तो उनमें नहीं—उनसे कहीं महान् हैं;—ये तो वे हैं जिनमें मृत्यु हँसी है और जिनके मरकर जीने में मृत्यु सार्थक हुई है; जिनमें मृत्यु ने चिर-जीवन प्राप्त किया है !

आज जब जीवन में भोग की प्रतिष्ठा करने के लिए संसार पागल है तब जीवन में सतत जलने वाली त्याग की दीप-शिखा लिये हुए ये जलकर सदा के लिए जीवित हो गईं बहनें हमारे सामने आती हैं। उनकी चिताओं में राजस्थान का अतीत हँसा था; उनके टूटते-गिरते हुए, उपेक्षित तथा हमारे दुर्भाग्य को प्रकट करनेवाली हमारी लापरवाही के चिन्ह-स्वरूप, बे-मरम्मत देवलों और स्मृति-स्तम्भों के इर्द-गिर्द हमारा वर्तमान रोता है; सिर धुनता और रोता है। नाचता है और रोता है !

इसे कौन सुने और कौन समझे ? पर हे मृत्यु में अमरता का सन्देश देने वाली, हम भू-लुण्ठित और पददलित जनों के अतीत और गौरव की थाती-सी बहनो ! तुम्हारी स्मृति में हमारा मस्तक नत है !

: ७ :

श्रेय की ओर !

४ अप्रैल, १९३५ ई०]

इतिहास, जीवन की थाती है। उसमें हमारे उन गुणों का सञ्चय होता है जिनके कारण हम ऊपर उठे और हमारी उन भूलों की गाथा होती है जिनके कारण हम गिरे। इतिहास हमें पुकार कर कहता है, सँभलो, ये तुम्हारी भूलें थीं, इनसे बचो और अपने उन गुणों की ओर देखो जिनमें तुम्हारा गौरव प्रकाशित हुआ था। इतिहास हमारे निराशा से थके हुए मन के अन्धकार का प्रकाश-स्तम्भ है। वह हमसे कहता है, श्रेय को लो और प्रेय को छोड़ो। यही इतिहास का उपयोग है और यही उसका गौरव है!

राजस्थान के इतिहास में पन्ना अमर है। वह अपने त्याग के ज्योतिःपुञ्ज से अपने देश के प्रत्येक बालुका-कण में एक सन्देश छोड़ गई है। पन्ना प्रेम पर कर्तव्य की विजय है और प्रेय पर श्रेय का शृङ्गार है! पन्ना वह माता नहीं जो अपने बच्चे के लिए संसार को भूल जाती है; वह माता है—वह माता, जिसकी गोद में, जिसके अञ्चल के नीचे सब बच्चे हैं और जो सबकी माता है।

जगद्धात्री की एक किरण के समान वह हमारे बीच आई

थी। मेवाड़ का राजवंश मिटना चाहता था। महाराणा संग्रामसिंह की मृत्यु हो चुकी थी। उनका ६ वर्ष का बच्चा उदयसिंह धात्री पन्ना के अञ्चल की छाया में किलकारियाँ मारता, नाचता और खेलता था। उसे क्या मालूम कि उसके अभिभावक, दासी-पुत्र बनवीर, पर लोभ और स्वार्थ का नशा चढ़ रहा है और वह स्वयं राज हाथ में करना चाहता है।

किसी ने आकर पन्ना को खबर दी कि बनवीर आ रहा है और अपनी तलवार को उदय के रक्त से अपवित्र करेगा। पन्ना का एक बच्चा, उदय का समवयस्क था। पन्ना ने कुछ सोचा; और काँप उठी। उसकी आँखों में दो बूँद आँसू आये और ढुलक गये। उसने फलों के टोकरे में उदयसिंह को सुला दिया और एक विश्वस्त सेवक के साथ उसे दूर के गाँव में भेज दिया। फिर उसने उदय के स्थान पर अपने बच्चे को सुलाया। ऊपर एक झीनी चादर डाल दी। ईश्वर को प्रणाम किया और अपने कर्त्तव्य-पालन के लिए तत्पर हो गई।

बनवीर आया। उसने पूछा, उदयसिंह कहाँ है ? पन्ना बोलती तो क्या ? माता का हृदय आँसू धोकर बहा जा रहा था; कलेजे का टुकड़ा वह देवता की वेदी पर बलि के लिए रख चुकी थी। कर्तव्य ने उसका मुँह बन्द कर दिया था। उसने अँगुली से पलङ्ग की ओर दिखा दिया। उन्मत्त बनवीर ने तलवार का एक हाथ मारा और फिर भीषण अट्टहास करता एवं

तलवार घुमाता तथा पागलों की भाँति नाचता चला गया।

कहते हैं, अपने दुःख को प्रकाशित करने से भी दुःख कम होता है। पर पन्ना अपने कलेजे के टुकड़े की बलि देकर भी मुँह नहीं खोल सकती। उस प्राणी के समान, जिसकी नस-नस में रोना भरा हो और जिसके रक्त का प्रत्येक विन्दु चीख रहा हो पर जिसे सिसककर, मसोसकर ही रह जाना पड़े। रात्रि के अन्धकार में लड़खड़ाती हुई वह उस स्थान की ओर चली, जहाँ उसके जीवन का कर्तव्य जल रहा था और जो उसके सूने एवं विस्तृत जीवन-मरु में एक मात्र हरियाली थी।

पन्ना को आज हम किस रूप में पूजें? वह तो केवल पूजा की चीज़ नहीं है; वह साधना की, अनुकरण की वस्तु है। आज इस ममता के युग में कर्तव्य की यह भीख कौन देगा? आज समाज में जो अगणित उदयसिंह मातृहीन, पितृहीन पड़े हुए हैं और जिनके ऊपर दुर्भाग्य की छाया मँडरा रही है, उनको आज कौन अपनावेगा? अगणित बनवीर आज स्वार्थ के नशे में दूसरों का भविष्य कुचलने के लिए तैयार हैं। उनके हाथों से उपेक्षित और त्यक्त, पीड़ित एवं दुर्बल की रक्षा कौन करेगा?

हाय, आज वह पन्ना कहाँ है? आज राजस्थान की नारियों और बहनों से मैं पूछता हूँ वह पन्ना कहाँ है? क्या तुम में कोई नहीं?—इसका उत्तर कौन देगा?

: ८ :

'मैं भूखी हूँ!'

१० अप्रैल, १९३५]

बादशाह अलाउद्दीन के हमलों से चित्तौड़ खण्डहर हो रहा था। हज़ारों राजपूत मातृभूमि की गौरव-रक्षा के लिए भेंट चढ़ चुके थे। पर अलाउद्दीन की आँखों पर पद्मिनी चढ़ी हुई थी। उसकी दशा उस प्राणी के समान थी जिस पर एक नशा चढ़ता है तो उसके प्राण के साथ उतरता है। उसे एकही धुन थी पद्मिनी की; और एकही लक्ष्य था पद्मिनी की प्राप्ति।

बादशाह ने एक बड़ी सेना लेकर चित्तौड़ पर फिर आक्रमण किया। वह पद्मिनी को लेगा या चित्तौड़ को ध्वंस कर देगा। राजपूत आज क्या करे? पद्मिनी को देने की वह कल्पना नहीं कर सकता और गुलामी उसने जानी नहीं। इसलिए उसने सदा की भाँति मरना ही निश्चय किया।

युद्ध चलने लगा और राजपूत कटने लगे। कहीं से सहायता का कोई उपाय नहीं। ऐसा मालूम होता था कि मेवाड़ की राजलक्ष्मी आज अप्रसन्न हैं और पता नहीं कब क्या हो जाय?

रात का समय है। महाराणा लक्ष्मणसिंह अपने विश्राम-भवन में पलंग पर लेटे हैं। नींद नहीं आती है। मेवाड़ की चिन्ता से मन-प्राण व्याकुल हैं। चारों ओर विपत्ति है; चारों

ओर भय है, चारों ओर निराशा है। इस गहरे अन्धकार में महाराणा का हृदय पूछता है, और मानो तड़पकर रो उठना चाहता है—"आज चित्तौड़ की रक्षा कौन करेगा?"

सोचते-सोचते महाराणा को थकावट और झपकी आ रही है। ऐसेही समय एक ओर से भयङ्कर शब्द हुआ—"मैं भूखी हूँ।" और सामने चित्तौड़ की अधिष्ठात्री देवी भयङ्कर रूप धारण किये खड़ी हैं!

महाराणा ने दुःख से चिल्लाकर कहा—"अबतक तुम्हारी क्षुधा शान्त नहीं हुई? पिछले दिनों में हमारे वंश के आठ हज़ार वीर पुरुषों ने अपनी बलि दी है। तब भी तुम भूखी हो?"

देवी ने चिल्लाकर कहा—"मुझे श्रेष्ठ बलि चाहिए। इस साधारण बलि से काम न चलेगा। मैं १२ राजाओं की बलि चाहती हूँ। १२ राजकुमार क्रमशः गद्दी पर बिठाये जायँ और रण-भूमि में अपनी बलि दें।"

देवी की इस आज्ञा का पालन किया गया। कलेजे पर पत्थर रखकर महाराणा ने अपने एक-एक पुत्र को गद्दी पर बिठाया और रण-भूमि में भेजकर बलि चढ़ा दी। जब एक पुत्र बच गया तो उसको सुरक्षित छोड़कर स्वयं युद्ध-भूमि में पदार्पण किया और लड़ते-लड़ते मरे।

बहनों ने हँसते-हँसते चिता में प्रवेश किया। और इस प्रकार श्रेष्ठ बलि देकर देवी की भूख मिटाई।

मैं नहीं जानता कि बुद्धिवाद के इस युग में यह बात कितनों के दिमाग़ में चढ़ेगी। पर सच पूछिए तो मनुष्यता के इतिहास में सदा यही हुआ है। सदा बलि देकर ही संस्कृति की, गौरव की रक्षा हुई है। जब-जब इतिहास कसौटी पर रखा गया है तब-तब खरा उतरने के लिए उसको शुद्ध और पवित्र रक्त के रूप में उसकी कीमत चुकानी पड़ी है।

आज भी वही युग आया है। आज भी माता भूखी है। मनुष्यता भूखी है। आज हमारी परीक्षा का युग फिर आया है। संसार तृष्णा और प्रतिहिंसा से पागल है। देश पराधीनता और गरीबी से पीड़ित है। राजपूताना तो आज अपने विगत गौरव की स्मशान भूमि बना हुआ स्वयं जला जा रहा है। समाज कुरीतियों के बन्धन में जकड़ा कराह रहा है। आज मनुष्यता की, राष्ट्र की, समाज की आत्मा भूख से छटपटा रही है और आपको पुकार रही है—"मैं भूखी हूँ, मेरी भूख कौन मिटायेगा?"

यह भूख रक्त की भूख नहीं है; यह युद्ध की भूख नहीं है। आज की माता के हाथ में खप्पर नहीं है और न उसके मुख में लपलपाती जिह्वा है। आज की उसकी भूख पेट की भूख नहीं, आत्मा की भूख है; यह भूख चाहती है कि आप अपने कर्तव्य की ओर देखें; और आपके मानस से जो लक्ष्मी, जो प्रकाश नष्ट हुआ जा रहा है, उसकी रक्षा करें। यह प्रेम की देवी की भूख है। और वह पुकारकर कहती है—"मैं भूखी हूँ!"

: ९ :

मोह कैसा ?

१७ अप्रैल, १९३५]

रूपनगर एक छोटा-सा राज्य; मुगलों के आतङ्क से दबा हुआ पर जिसके प्राणों में आत्माभिमान की खुशबू भरी हुई थी। मुग़ल-सम्राट की दृष्टि राजकुमारी पर पड़ी। वह लड़की, जो भक्ति की सरिता में बह रही थी और प्रभु की उपासना में जिसका मन बसता था, क्या करे? उस छोटे-से राज्य की क्या बिसात कि वह सम्राट का सामना करता? पर राजपूत तो हिम्मत का धनी होता है और प्राण हथेलियों पर उछालता चलता है। इसलिए धर्म की रक्षा के लिए रूपनगर भी तैयार हुआ। और साथ ही मेवाड़ के राणा राजसिंह को, राजकुमारी की सम्मति से लिखा कि लड़की व्याह करेगी तो आप से ही, अन्यथा नहीं और आज हम अपने कर्तव्य-पालन के पथ में आप से रक्षा एवं सहायता की भीख माँगते हैं।

राजसिंह ने वचन दे दिया। शरणार्थी की रक्षा भारतीय संस्कृति की एक विशेषता रही है। पर प्रश्न यह था कि यदि राजसिंह राजकुमारी को व्याहने रूपनगर जाते हैं और इधर बादशाह ने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया तो उसकी रक्षा कौन करेगा? महाराणा कई दिनों तक सोचते रहे। उनकी

चिन्ता काल्पनिक न थी। उन दिनों चित्तौड़ भारतीय सभ्यता का तीर्थ था। वह स्वतन्त्रता के दीवानों की वस्ती थी जिसे पराजित करने का प्रयत्न किये विना कोई सम्राट रहता न था। इसलिए निश्चित था कि चित्तौड़ पर आक्रमण होगा। महाराणा कोई हल न निकाल सके और अन्त में उन्होंने दरवार में यह प्रश्न रखा।

जिन चूँड़ावतों ने अपने रक्त से मेवाड़ की वीरता का इतिहास लिखा है, उनका सरदार दरवार में मौजूद था। केवल १७-१८ वर्ष का वालक पर नाहर के वच्चे-जैसी छाती और मस्ती; और छाती में आँधी का साहस। लोग चुप थे। सहसा वह उठा और विजली की भाँति कड़ककर वोला—"महाराणा, जवतक हम लोग हैं आपको मेवाड़ की चिन्ता क्यों ? आप रूपनगर जाइए। मैं अन्य वीरों को लेकर वादशाह की गति रोकता हूँ। और प्रतिज्ञा करता हूँ कि जवतक उक्त विवाह-कार्य समाप्त न हो जायगा, मैं वादशाह को आगे बढ़ने न दूँगा।"

उधर राणा ने रूपनगर प्रस्थान किया इधर चूँड़ावत ने युद्ध का डङ्का वजवाया। सब चूँड़ावत योद्धा एकत्र हुए। युद्ध-यात्रा की तैयारी होने लगी। चूँड़ावत सरदार का चेहरा रणोन्माद के तेज से प्रकाशित हो रहा था। इसी समय उनकी दृष्टि ऊपर महल के झरोखे पर गई, जहाँ उनकी पत्नी

रूपनगर एक छोटा-सा राज्य; मुगलों के आतङ्क से दबा हुआ पर जिसके प्राणों में आत्माभिमान की खुशबू भरी हुई थी। मुग़ल-सम्राट की दृष्टि राजकुमारी पर पड़ी। वह लड़की, जो भक्ति की सरिता में बह रही थी और प्रभु की उपासना में जिसका मन बसता था, क्या करे? उस छोटे-से राज्य की क्या बिसात कि वह सम्राट का सामना करता? पर राजपूत तो हिम्मत का धनी होता है और प्राण हथेलियों पर उछालता चलता है। इसलिए धर्म की रक्षा के लिए रूपनगर भी तैयार हुआ। और साथ ही मेवाड़ के राणा राजसिंह को, राजकुमारी की सम्मति से लिखा कि लड़की व्याह करेगी तो आप से ही, अन्यथा नहीं और आज हम अपने कर्तव्य-पालन के पथ में आप से रक्षा एवं सहायता की भीख माँगते हैं।

राजसिंह ने वचन दे दिया। शरणार्थी की रक्षा भारतीय संस्कृति की एक विशेषता रही है। पर प्रश्न यह था कि यदि राजसिंह राजकुमारी को व्याहने रूपनगर जाते हैं और इधर बादशाह ने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया तो उसकी रक्षा कौन करेगा? महाराणा कई दिनों तक सोचते रहे। उनकी

चिन्ता काल्पनिक न थी। उन दिनों चित्तौड़ भारतीय सभ्यता का तीर्थ था। वह स्वतन्त्रता के दीवानों की वस्ती थी जिसे पराजित करने का प्रयत्न किये विना कोई सम्राट रहता न था। इसलिए निश्चित था कि चित्तौड़ पर आक्रमण होगा। महाराणा कोई हल न निकाल सके और अन्त में उन्होंने दरबार में यह प्रश्न रखा।

जिन चूँड़ावतों ने अपने रक्त से मेवाड़ की वीरता का इतिहास लिखा है, उनका सरदार दरबार में मौजूद था। केवल १७–१८ वर्ष का बालक पर नाहर के बच्चे-जैसी छाती और मस्ती; और छाती में आँधी का साहस। लोग चुप थे। सहसा वह उठा और बिजली की भाँति कड़ककर बोला—"महाराणा, जबतक हम लोग हैं आपको मेवाड़ की चिन्ता क्यों ? आप रूपनगर जाइए। मैं अन्य वीरों को लेकर बादशाह की गति रोकता हूँ। और प्रतिज्ञा करता हूँ कि जबतक उक्त विवाह-कार्य समाप्त न हो जायगा, मैं बादशाह को आगे बढ़ने न दूँगा।"

उधर राणा ने रूपनगर प्रस्थान किया इधर चूँड़ावत ने युद्ध का डङ्का बजवाया। सब चूँड़ावत योद्धा एकत्र हुए। युद्ध-यात्रा की तैयारी होने लगी। चूँड़ावत सरदार का चेहरा रणोन्माद के तेज से प्रकाशित हो रहा था। इसी समय उनकी दृष्टि ऊपर महल के झरोखे पर गई, जहाँ उनकी पत्नी

झाँक रही थी। चूँड़ावत की अभी शादी हुई थी; हाथ का कङ्गन भी न खुला था। मोह का धुआँ उठा और उनके मन पर छा गया। उनका मुख रानी की चिन्ता से फीका पड़ गया। वह ऊपर गये। रानी ने पूछा—"स्वामी, क्या हुआ? अभी आपके चेहरे पर मैंने जो तेज और उमङ्ग देखा था, वह कहाँ चला गया? आप तो युद्ध के लिए प्रस्थान कर रहे हैं, फिर क्षत्रिय तो ऐसे समय सुस्त नहीं पड़ते?"

चूँड़ावत ने कहा—"प्रिये, अब मेरा लौटना न होगा। बादशाह की सेना बड़ी है, उसके सामने विजय पाकर लौटना सम्भव नहीं और पीठ देकर लौटना कभी क्षत्रिय ने जाना नहीं। इसलिए मेरी तुम्हारी यह अन्तिम भेंट है। मुझे अपनी चिन्ता नहीं है; केवल तुम्हारी चिन्ता है कि तुमने दुनिया का कुछ सुख न जाना।"

हाड़ी रानी बोली—"स्वामी यदि आप युद्ध से विजय प्राप्त करके लौटे तो इससे बढ़कर सौभाग्य मेरे लिए क्या होगा? यदि आपने वीरगति पाई तो मैं क्षत्राणी का जो धर्म है उसका पालन करूँगी और शीघ्र आपसे स्वर्ग में आ मिलूँगी।"

चूँड़ावत बोले—"हाड़ी, जय पाकर लौटने की तो आशा नहीं है। मरना तो निश्चित ही है। तुम समझदार हो इस-

लिए अपने घर की लाज रखना और मेरी मृत्यु के बाद अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करना।"

हाड़ी ने उत्तर दिया—"महाराज, आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहिए। आप अपने धर्म का पालन करें; मैं अपने धर्म में न चूकूँगी, इसे आप पत्थर की लकीर समझें।"

परन्तु जब मनुष्य मोह के वश होता है तो उसका विवेक और विश्वास दोनों लुप्त हो जाता है। चूँड़ावत सरदार के मन में मोह की आँधी चल रही थी इसलिए रानी के इस प्रकार विश्वास दिलाने पर भी उन्हें सन्तोष न हुआ। मन में सन्देह एवं द्विधा बनी रही कि पता नहीं, मेरे मरने के बाद हाड़ीजी सती होंगी या नहीं। रानी का अभी विवाह हुआ था और उनकी तरुणाई देखकर चूँड़ावत का दिल काँप रहा था। धर्म और विश्वास की दीप-शिखा आज मोह और आसक्ति की आँधी में कम्पित हो उठी। और युद्ध-भूमि में ही जिसे एकमात्र अर्पित और केन्द्रित होना था, उसका दिल यौवन और जीवन के प्रलोभनों की तरफ़ उड़ने लगा।

रानी को समझा-बुझाकर चूँड़ावत सरदार विदा तो हुए परन्तु सीढ़ियों से उतरते-उतरते फिर कहा—"हम तो जाते हैं, तुम अपना धर्म भूल न जाना।" फिर बाहर पहुँचे, जहाँ सेना खड़ी उनके आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। धौंसा बजवाया गया। पर मन में रानी की चिन्ता तो बनी थी।

जितना वह मन से यह भूत हटाना चाहते उतनी ही दृढ़ता से वह मन को पकड़ता था। प्रस्थान के पूर्व उन्होंने फिर अपना एक विश्वस्त सेवक हाड़ी के पास भेजा और कहलाया कि 'रानी हम जाते हैं, तुम अपना धर्म न भूलना।' हाड़ी रानी ने देखा मेरे विश्वास दिलाने पर भी स्वामी ने तीन बार कहलाया। उनका मन तो मुझमें लगा है। मेरे मोह से उनका चित्त व्याकुल एवं चिन्तित है। और जब तक उनका मन मुझमें लगा रहेगा, रणक्षेत्र में वह अपने पराक्रम एवं शौर्य का परिचय न दे सकेंगे और जिस कार्य के लिए जा रहे हैं वह निष्फल होगा तथा क्षत्रिय का जो धर्म है उससे भी च्युत होंगे।

यह विचारकर वह उस सेवक से बोली—"मैं तुमको अपना सिर देती हूँ। इसे लेजाकर स्वामी को दे देना और कहना कि हाड़ीजी पहले से ही सती होकर अपना धर्म पालन कर चुकी हैं और आपके लिए यह भेंट भेजी है जिसे लेकर आप सानन्द रणक्षेत्र को प्रस्थान कीजिए और विजय पाइए तथा अपना मनोरथ सफल कीजिए। यदि मैं ऐसा न करती तो आपका मन मुझमें लगा रहता। क्षत्रिय को इस प्रकार वासना एवं मोह से हृदय दुर्बल करना शोभा नहीं देता।"

यह कहकर तलवार का एक हाथ अपने गले पर चलाया;

सिर कटकर गिर पड़ा। वह सेवक सिर लेकर चूँड़ावत सरदार के पास पहुँचा और सब हाल सुनाकर सिर रख दिया।

चूँड़ावत सरदार पर नशा छा गया। उन्होंने रानी की चोटी के दो हिस्से करके उस सिर को गले में लटका लिया और मुण्डमाल धारण करनेवाले रुद्र की भाँति दिखाई पड़े।

अब तो न रानी का मोह था, न जीवन का मोह था। सब कुछ भूल गया था। केवल अपनी प्रतिज्ञा, अपने वचन, अपने उद्देश्य की याद थी। रानी अब उनसे अलग न थी। वह मिटकर उन्हें राह बता गई थी। इसलिए चूँड़ावत अपने कर्तव्य में केन्द्रित थे।

इस युद्ध में चूँड़ावत सरदार ने जो साहस और जो वीरता प्रदर्शित की, वह अकथ है। तीन दिन तक बादशाह की गति रोककर युद्ध करते रहे और अपनी प्रतिज्ञा पूरी करके रणक्षेत्र में वीरगति प्राप्त की।

आज हमारे आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, तुच्छ स्वार्थों का गहरा अन्धकार फैला हुआ है, जिसके कारण हमारे मन में मोह का विष धीरे-धीरे फैलकर हमारे प्राणों को, हमारी आत्मा को, हमारे कर्तृत्व को शिथिल कर रहा है। इस शिथिलता और निराशा से भरे हुए जीवन के क्षितिज पर यह घटना बिजली की भाँति चमककर हमसे क्या कहना चाहती है ? वह मानो हमारे अन्तर की सारी सद्प्रवृत्तियों

को पुकार रही है और कहना चाहती है कि तुम जीवन के पथ में मोह को लेकर नहीं चल सकते हो। यह जो जीवन का युद्ध है इसमें तुम तभी विजयी होगे जब शरीर-सुख को, भोग की वासनाओं को भूल जाओ और मोह उत्पन्न करने-वाली, प्रेय, वस्तुओं से ध्यान हटाकर केवल लक्ष्य की ओर, श्रेय की ओर, ध्यान दो।

आज वह जीवन की सारी दुर्बलताओं को चुनौती देकर पुकार रही है—

यह मोह कैसा ?

: १० :

त्याग की एक कहानी

२६ मई, १६३५]

महाराणा लाखा ने विनोद में कही थी वह सत्य हुई और मारवाड़ की राजकुमारी हंसावाई ने महारानी के रूप में चित्तौड़ के राजभवन में प्रवेश किया।

महारानी हंसा के पेट से वालक मोकल का जन्म हुआ।

× × ×

इसके पाँच वर्ष वाद।

हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ गया पर विदेशियों ने आक्रमण किया। मन्दिर तोड़े जाने लगे। महाराणा लाखा के पास सन्देश आया; वह गया जाने को तय्यार हुए और जाते समय राजकुमार चूँडा को बुलाकर कहा—"वेटा, मोकल अभी वालक है। वह राज-कार्य संभाल नहीं सकता। इसलिए मैं उसे गद्दी न देकर तुम्हें दे रहा हूँ। उसे जितनी जागीर तुम कहोगे, दी जायगी।"

चूँडा इन प्रलोभनों के वीच चट्टान की तरह अटल रहा। वोला—"पिताजी, मैं अपना अधिकार त्याग चुका हूँ। राजपूत दो वात नहीं वोल सकता। सिंहासन मोकल का है। आप चाहें तो मुझे थोड़ी जागीर दे दें; वहां रहकर मैं भाई के सिंहासन की रक्षा करूँगा अन्यथा राजपूत के लिए एक घोड़ा और भाला काफी है।"

यह कहकर उसने वालक मोकल को वुलाया और उसे

हाराणा लाखा ने विनोद में कहा था वह सत्य हुए और मारवाड़ की राजकुमारी हंसाबाई ने महारानी के रूप में चित्तौड़ के राजभवन में प्रवेश किया।

महारानी हंसा के पेट से बालक मोकल का जन्म हुआ।

× × ×

इसके पाँच वर्ष बाद।

हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ गया पर विदेशियों ने आक्रमण किया। मन्दिर तोड़े जाने लगे। महाराणा लाखा के पास सन्देश आया; वह गया जाने को तय्यार हुए और जाते समय राजकुमार चूँडा को बुलाकर कहा—"बेटा, मोकल अभी बालक है। वह राज–कार्य संभाल नहीं सकता। इसलिए मैं उसे गद्दी न देकर तुम्हें दे रहा हूँ। उसे जितनी जागीर तुम कहोगे, दी जायगी।"

चूँडा इन प्रलोभनों के बीच चट्टान की तरह अटल रहा। बोला—"पिताजी, मैं अपना अधिकार त्याग चुका हूँ। राजपूत दो बात नहीं बोल सकता। सिंहासन मोकल का है। आप चाहें तो मुझे थोड़ी जागीर दे दें; वहां रहकर मैं भाई के सिंहासन की रक्षा करूँगा अन्यथा राजपूत के लिए एक घोड़ा और भाला काफी है।"

यह कहकर उसने बालक मोकल को बुलाया और उसे

षड्यंत्रकारियों ने महारानी हंसा के कान भरने शुरू किये और उसके मन में विश्वास बैठा दिया कि चूँड़ा मौका पाते ही मोकल को मारकर स्वयं महाराणा बनने के विचार में है।

राजमाता हंसा ने एक दिन चूँड़ा को बुलाकर कहा कि अब राज को तुम्हारी आवश्यकता नहीं है, तुम छोड़कर चले जाओ। नहीं तो कहो, मैं ही मोकल को लेकर यहाँ से चली जाऊँ। राजकुमार चूँड़ा ने देखा कि राजमाता षड्यन्त्र-कारियों की शिकार हुई हैं; पर वह क्या करता; उसने कहा—"आपकी आज्ञा मानकर मैं आज ही चला जाता हूँ पर आप राज्य की रक्षा में सावधान रहिएगा।"

चूँड़ा घर आया। मेवाड़ की रक्षा का भार अपने छोटे भाई राघव पर छोड़ा और अपने अन्य साथियों के साथ वह माँडू के सुलतान के यहाँ चला गया। सुल्तान ने वीर का उपयुक्त सम्मान किया और उसे जागीर दी। वहाँ चूँड़ा शान्ति के साथ रहने लगा। इतने अपमान और तिरस्कार के बाद भी मातृभूमि की चिन्ता उसे सदा लगी रहती थी।

× × ×

इसके बाद कई वर्ष बीत गये।

महाराणा मोकल एक बड़े वीर एवं धर्मात्मा राजा निकले। उन्होंने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की परन्तु १४३३ ई० में पूजा करते समय उन्हीं के कुछ सम्बन्धियों ने षड्यन्त्र करके

उनको मार डाला। महाराणा मोकल के सात पुत्र थे जिनमें बड़ा कुम्भ सिंहासन पर बैठा।

महारानी हंसा ने इस असमय में भी चूँड़ा की याद न की। राज्य-प्रबन्ध के लिए अपने मायके के अनेक लोगों को बुला लिया। राव रणमल अपने पुत्र जोधा के साथ मारवाड़ से आगये और चित्तौड़ का शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। धीरे-धीरे मेवाड़ के लोगों को निकालकर राज्य के सब पदों पर उन्होंने मारवाड़ के अपने विश्वस्त आदमी रख दिये और चूँड़ा के छोटे भाई राघवदेव को भी धोके से मरवा डाला। और धीरे-धीरे सिंहासन पर स्वयं बैठने का उपक्रम करने लगा।

अन्त में महारानी हंसा की आँख खुली; वह डर गई और दूसरा कोई उपाय न देख राजकुमार चूँड़ा को लिखा कि "मैंने तुम्हें पहचानने में भूल की थी। मेरे अपराध क्षमा करो और आकर मेवाड़ के सिंहासन एवं कुम्भ के जीवन की रक्षा करो।"

चूँड़ा ने पहले तो कुम्भ की रक्षा का उपाय किया और दिवाली में उसे उत्सव देखने के लिए बाहर के एक स्थान पर भिजवा दिया। जब कुम्भ सुरक्षित स्थान पर पहुँच गया तब चूँड़ा ने चित्तौड़ पर धावा बोल दिया और रणमल को मारकर एवं षड्यन्त्रकारियों को दूरकर राज्य की रक्षा की।

राजपूताना के इतिहास में चूँड़ा की त्याग की कहानी निराली है। राजस्थान में बिजली की तरह चमक उठनेवाले और दियासलाई की तरह जल उठनेवाले वीर तो अनेक हुए हैं। आग की लपटों की तरह जलकर त्याग की लौ भी अनेक ने जलाई है पर उनके खून में गरमी थी और उनका त्याग प्रतिहिंसा का, प्रतिक्रिया का त्याग था। उस त्याग में विष की ज्वाला थी; अमृत की शीतलता न थी। धीरे-धीरे अपमान और तिरस्कार के घूँट पीकर भी मातृभूमि के लिए इस तरह त्याग करनेवाला और ऐसा पितृभक्त राजस्थान के इतिहास में दूसरा दिखाई नहीं देता। चूँड़ा चूँड़ा ही है; उसका जोड़ नहीं।

आज त्याग की यह कहानी क्या भारत की तरुण पीढ़ी पढ़ेगी और पढ़कर समझेगी?

: ११ :

प्राणों की इस ज्वाला को देखो !

१६ सितम्बर, १६३५]

[१]

जीते और मुरदे

बातें करनेवाले सर्वत्र दुनिया में बहुत मिलते हैं और काम करनेवाले बहुत कम। इन काम करनेवालों में भी अपने कर्तव्य के लिए प्राण देनेवाले अङ्गुलियों पर गिन लिये जा सकते हैं। पर ये अङ्गुलियों पर गिन लिये जानेवाले ही संसार को प्रकाश और जीवन देते हैं और यही हैं जिनकी समाधि पर संसार के सर्वश्रेष्ठ पुष्प लहलहाते हैं।

बिना मरे भी संसार में कोई जिया है? जो मरना नहीं जानता वह जीना क्या जानेगा? जीना वह, जो हमारे रग-रग से उबल कर निकले; जीना वह जो हमारे भाव में, हमारी बात में, हमारे कार्य में, हमारे चलने-फिरने, हँसने और रोने में हमारी ज़िन्दगी की प्रत्येक गति में व्याप्त हो; जीना वह जो हमारी नसों में गरम खून बनकर दौड़े, हमारी आँखों में बिजली बनकर कौंधे, हमारे मुख पर प्रकाश की धारा-सा चमक उठे और हमको प्रतिक्षण प्रति पग पर चञ्चल,

अस्थिर करके रखे ! जीवन वह कि हम चलें तो पृथ्वी डगमग करे; हम बोलें तो उसमें वज्रघोष हो; हम हँसें तो लोगों की आँखें झपक जायँ; हमारी भवों पर बल आवे तो लोगों के प्राण काँप उठें और हम रोयें तो मानवता की गर्दन जमीन में झुक जाय। यही जीना है;—कौंधता हुआ; दूध की तरह–अमृत की तरह स्वच्छ एवं कल्याणकर परन्तु विष की तरह प्राणों की नस-नस में भिदकर बोलनेवाला !

कहने को संसार में करोड़ों मनुष्य रहते हैं। पर इनमें से अधिकांश भेड़ें हैं—भेड़ें जो स्वभावतः सिंहों की खुराक हैं। दुनिया की आबादी का अधिकांश मुरदा-सा, कुछ जीनेवालों के खाद्य के रूप में जीता है। इनका जीना केवल शरीर का जीना है। इनका जीना कोढ़ी का जीना है। इनका जीना प्रेतों का जीना है। अपने लिए भी बोझ; दूसरों के लिए भी बोझ।

दुनिया के इतिहास को इन थोड़े से जीनेवालों ने ही जीवित रखा है, इन करोड़ों मुरदों ने नहीं। वह जीवन-धारा जो मध्ययुग में राजपूतों में चमकी थी; जो जापान-रूस युद्ध में दिखाई पड़ी थी कुछ दिन पहले अफ्रीका के एक नगर में, शरीर-मोह की बाँधों को तोड़कर, बाधा-बंध-विहीन-सी वह उठी थी। संसार चकित होकर देखे जीवन की यह ज्वाला कि जिनको वह असभ्य कहता है उनमें मातृभूमि के लिए कैसी वेदना है और उस वेदना के लिए वे क्या मूल्य देने को तैयार हैं।

[२]

शवों का पुल बनाओ !

अफ्रीका का एबिसीनिया देश; उसकी राजधानी अदीस अबाबा का एक दृश्य। चारों ओर हलचल है। कोई आता है, कोई जाता है। जो नगर एक दिन सुनसान दिखता था, आज जीवन के कलकल से मुखरित और ऊर्जस्वित है। सेना-विभाग के कार्यालय के सामने देश की पुकार सुनकर आनेवाले हजारों उम्मीदवार खड़े हैं और हजारों आ रहे हैं।

इन्हीं जीवन-प्रद दृश्यों के बीच, एक प्रतिनिधि मण्डल सम्राट के सामने आता है। मण्डल देश के लक्ष-लक्ष अधिवासियों और शत-शत युवक वीर सैनिकों की ओर से बोलता है। उसका अनुरोध है कि सम्राट शीघ्र से शीघ्र युद्ध की घोषणा करें। उसकी वाणी में देश बोल रहा है; उसके अनुरोध पर देश के युवकों के प्राणों की रक्त-छाप है। उसके पीछे जीवन की आग है, प्राण की ज्वाला है, उत्सर्ग का तेज है।

सम्राट की छाती गौरव से फूल उठी; आँखें मुँद गईं; जीवन मानों मुख पर हँस रहा हो। वे क्या कहें? इस उत्सर्ग के तीव्र प्रवाह को वे क्या कहकर बाँध में रखें? यह तो उमड़ती और बल खाती हुई विद्रोही नदी के समान बाधाओं को तोड़कर बहना चाहती है। कैसे इसे वे शान्त करें?

दो मिनट की चुप्पी। सम्राट ने कहा—"भई, थोड़े दिन

और रुको। भयङ्कर बाढ़ आई हुई है, नदी चढ़ी है; इसे उतर जाने दो। इस बाढ़ में उतरने की हिम्मत कौन करेगा ?"

बात तीर-सी लगी और एक सैनिक उछलकर खड़ा हो गया। आग-से जल रहे शब्दों में बोला—"मैं तैयार हूँ।"

सबने सुना और सबके मुख से, अचेत यन्त्र की भाँति, निकला—"मैं तैयार हूँ !"

मानो कान ने जो सुना, मुँह ने पुकारकर उसकी प्रतिध्वनि कर दी !

मण्डल के सभ्य बोले—"हम आपको ७ हज़ार आदमी देते हैं। ये पानी में डूबकर मरते जायँगे और उनके शवों पर पुल बँधता जायगा। हम चाहते हैं कि उस पर से ७-८ हज़ार सैनिक तो पार उतरकर तुरन्त सीमाप्रान्त की ओर चले जायें !"

[२]

और माताएँ ?

परन्तु इन वीर सैनिकों की शक्ति का स्रोत तो देश की वे माताएँ थीं जिनका दूध उनकी नसों में रक्त बन गया था और जिनका दूध वे कभी लज्जित न कर सकते थे !

फिर वे माताएँ, जिन्होंने इनको जन्म दिया था, कैसे पीछे रह सकती थीं। उनकी अपनी सभा हुई और शीघ्र युद्ध आरम्भ कर देने का अनुरोध उन्होंने सम्राट से किया। इन

स्त्रियों में अनेक युरोप के विद्यापीठों की स्नातिकाएँ थीं। हबशी स्त्रियाँ स्वतन्त्र हैं किन्तु कुलीन वर्ग की कुछ स्त्रियाँ मिश्री रमणियों की भाँति मुँह पर जालीदार घूँघट डालती हैं। इस सभा में उन्होंने भी घूँघट हटा दिया था। इन स्वतन्त्र स्त्रियों ने शाह से इस बात की माँग की कि हमें भी पुरुषों के साथ-साथ देश के यज्ञ-कुण्ड में आहुति देने की आज्ञा दी जाय। और सभा में जब देश के लिए धन की अपील की गई तो उनमें से प्रत्येक ने उसके पास जो कुछ था, बिना किसी हिचकिचाहट वा विलम्ब के दे दिया।

एक स्त्री के पास जो आभूषण एवं द्रव्य था, सब उसने लेजाकर सम्राट के सामने रख दिया। सम्राट ने हँसकर पूछा—"बहन, तेरे पास और भी कुछ बाकी है?"

उसने सम्राट की ओर देखा और कड़ककर बोली—

"हाँ, प्राण है किन्तु उसे भी मैं देश के लिए अर्पण कर चुकी हूँ!"

मुसोलिनी देखे, युरोप के राष्ट्र देखें और हे भारत के बहुत बोलनेवाले युवको, तुम सबसे ज्यादा देखो! प्राणों की इस ज्वाला को देखो! जीवन की इस बिजली को देखो! इस जीने को देखो—इस उत्सर्ग को देखो!

जबतक यह है, कौन एबिसीनिया को परतन्त्र करेगा?

: १२ :

खोये और भूले हुए !

२४ नवम्बर, १९३५]

[१]

यदि हममें नैतिक साहस हो और सत्य को मानने और कहने का बल भी हो तो सारी दर्पपूर्ण बातों को छोड़कर हम इतना ही क्यों न कहें कि हमारा देश गुलाम है; हमारा मन गुलाम है और इसीलिए हमारी राजनीति भी गुलाम है—या यों कि हमारी अपनी कोई राजनीति नहीं। जो कुछ दिखती है, उधार ली हुई है या सभ्यता और शर्म को छोड़कर कहें तो यह भी कहें कि चोरी की है और परकीया-सी भयानक है!

फिर भी हम देश-भक्त हैं, हम समाजवादी हैं; हम जमींदार भी हैं और साम्यवादी भी हैं। हम सबकी पोल जानते हैं। गांधीवाद पागलपन है; ग्राम्य-सेवा उस पुराने ज़माने की ओर लौटना है जब ज़िन्दगी में कुछ अजीब अनुशासित था और जब मानव, सभ्यता से दूर भागने में ही सुख-तृप्त था। रचनात्मक कार्यक्रम अनन्त की मंज़िल है, और जब तक हम अपने मन की मंजिलें न प्राप्त करलें, इसके लिए ठहर सकती है! और यह स्वतन्त्रता की लड़ाई

चले कैसे जब अधिकार ऐसे लोगों के हाथ में हो जिन्हें सोचने का अभ्यास पड़ गया है। क्यों न हम पहले इन्हें निकाल बाहर करें ? ये पूँजीवाद के साथ समझौता करनेवाले फकीर ही तो मार्ग के रोड़े हैं और हम जरा आराम से रह-कर बात कर लेनेवाले इनके सामने क्यों सर झुकायें ?

कुछ ऐसी ही लाइनों पर हमारी राजनीति आज चल रही है। पश्चिम ने हमको जगाया, पर जागरण में केवल जागृति ही नहीं दी, एक नशा और एक आकर्षण भी हममें भर दिया। हम पढ़ते हैं अंग्रेजी, सोचते हैं अंग्रेजी में और थोड़े या बहुत अपना एक अंग्रेज संस्करण बाजार में ला रहे हैं। इसमें कुछ फूले से, कुछ खुश भी हैं। हमें कुछ ऐसा लगता है कि जो कुछ ज्ञान-विज्ञान है वह असल रूप में पश्चिम से आ रहा है और पश्चिम ने हमारे शरीर को ही मोहाविष्ट नहीं कर रखा है वरन् हमारे मानस को भी उसकी मदिरा अचेत कर चली है। उस नशे में आनन्द है और धुन है, जब ऐसा आभास हमें हो तो हमें कौन रोकने में समर्थ हो और हम रुकने ही क्यों लगें ?

आज तो गति, न कि विवेक, हमारी राजनीति का लक्ष्य (Desideratum) है। गति ही हमारे लिये सत्य है। चलना, चलना और चलना ! जो चल रहा है, नाच रहा है, अस्थिर है वह देशभक्त है, क्रान्तिकारी है, सब कुछ है। जो

[१]

यदि हममें नैतिक साहस हो और सत्य को मानने और कहने का बल भी हो तो सारी दर्पपूर्ण बातों को छोड़कर हम इतना ही क्यों न कहें कि हमारा देश गुलाम है; हमारा मन गुलाम है और इसीलिए हमारी राजनीति भी गुलाम है— या यों कि हमारी अपनी कोई राजनीति नहीं। जो कुछ दिखती है, उधार ली हुई है या सभ्यता और शर्म को छोड़-कर कहें तो यह भी कहें कि चोरी की है और परकीया-सी भयानक है!

फिर भी हम देश-भक्त हैं, हम समाजवादी हैं; हम जमींदार भी हैं और साम्यवादी भी हैं। हम सबकी पोल जानते हैं। गांधीवाद पागलपन है; ग्राम्य-सेवा उस पुराने जमाने की ओर लौटना है जब ज़िन्दगी में कुछ अजीब जङ्गलीपन था और जब मानव, सभ्यता से दूर अपने में ही खुश-खुश था। विधायक कार्यक्रम अनन्त की मञ्ज़िल है, और जब तक हम अपने मन की ये चीजें न प्राप्त करलें, हमारे लिये टहर सकती है! और यह स्वतन्त्रता की लड़ाई

चले कैसे जब अधिकार ऐसे लोगों के हाथ में हो जिन्हें सोचने का अभ्यास पड़ गया है। क्यों न हम पहले इन्हें निकाल बाहर करें ? ये पूँजीवाद के साथ समझौता करनेवाले फकीर ही तो मार्ग के रोड़े हैं और हम जरा आराम से रहकर बात कर लेनेवाले इनके सामने क्यों सर झुकायें ?

कुछ ऐसी ही लाइनों पर हमारी राजनीति आज चल रही है। पश्चिम ने हमको जगाया, पर जागरण में केवल जागृति ही नहीं दी, एक नशा और एक आकर्षण भी हममें भर दिया। हम पढ़ते हैं अंग्रेजी, सोचते हैं अंग्रेजी में और थोड़े या बहुत अपना एक अंग्रेज संस्करण बाजार में ला रहे हैं। इसमें कुछ फूले से, कुछ खुश भी हैं। हमें कुछ ऐसा लगता है कि जो कुछ ज्ञान-विज्ञान है वह असल रूप में पश्चिम से आ रहा है और पश्चिम ने हमारे शरीर को ही मोहाविष्ट नहीं कर रखा है वरन् हमारे मानस को भी उसकी मदिरा अचेत कर चली है। उस नशे में आनन्द है और धुन है, जब ऐसा आभास हमें हो तो हमें कौन रोकने में समर्थ हो और हम रुकने ही क्यों लगें ?

आज तो गति, न कि विवेक, हमारी राजनीति का लक्ष्य (Desideratum) है। गति ही हमारे लिये सत्य है। चलना, चलना और चलना ! जो चल रहा है, नाच रहा है, अस्थिर है वह देशभक्त है, क्रान्तिकारी है, सब कुछहै। जो

चलते-चलते दो क्षण ठहरकर सोच लेना चाहता है कि हम कहाँ जा रहे हैं वह पश्चाद्‌गामी है, देश-द्रोही है, कुछ नहीं है। विछृङ्खला, अव्यवस्था, में हमारा आनन्द है। सब कुछ बदल रहा है, सब कुछ गल रहा है। यह तो बुरा नहीं है पर बदलकर क्या हो रहा है और गलकर क्या बनेगा, यह सोच लेना क्या बुरा होता?

पर नहीं, राजनीति तो धर्म नहीं है! वह तो अपनी गति से चलेगी—जो बना है उसे तोड़ती और जो टूटा है उसे कुछ बनाती हुई। तुम उसे नीति क्यों बनाओ? उसे नग्न करके क्यों न देखो? उसे शुद्ध स्वार्थों की तराज़ू पर क्यों न तोलो?

बात तो यह है कि गुलामी ने हमारे शरीर ही बेकाम नहीं कर दिये, हमारे मन में भी अपना कोकीन 'इञ्जेक्ट' कर दिया है। हम विश्वास नहीं कर सकते कि जितना आगे पश्चिम गया है—यह ताजा-ताजा अरुण-सा विश्व के क्षितिज पर उगा हुआ पश्चिम—, बूढ़ा, शिथिल और थका-सा पूर्व उसके आगे भी जा सकता है? साहस की, ऐडवेञ्चर की, आत्मविश्वास की आवाज़ हमारे अन्दर उठती नहीं और उठती है तो यों कि दम तोड़ रही हो और अपने-आप में और भयानक हो उठी हो। पश्चिम ने हमें स्वतन्त्रता बताई, हम स्वतन्त्रता की ओर दौड़े। पश्चिम ने हमें जनतन्त्र और

प्रजातन्त्र की श्रेष्ठता सिखाई, हमने उन्हें सर्वश्रेष्ठ तन्त्र मान लिया। आज पश्चिम ने उसका खोखलापन बताया और हमने सिर हिला दिया—तुम ठीक तो कहते हो! पश्चिम ने समाजवाद और साम्यवाद की शिक्षा दी, हमने उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया। हम पश्चिम के साथ-साथ चल रहे हैं। अभी वह साम्यवाद तक पहुँचा है, हम साम्यवादी हैं। जिस दिन वह आगे बढ़ेगा हम भी आगे बढ़ेंगे। वहाँ से छनकर 'रेडीमेड' जो सिद्धान्त आयेंगे उन्हें हम ले लेंगे—उधार। खरीदने का बल तो हममें है नहीं। बना-बनाया जब आता है तो काट-छाँट, तोड़-फोड़ कौन करे और कौन सोचे, कौन बनाये ?

हमारी राजनीति और हमारी मानसिक गुलामी कुछ ऐसी ही है। ये युवक किस देश के गौरव होंगे। इन पर नाज़ हो या ग्लानि हो ? इनमें किसी के पास यह कलेजा नहीं कि वह दहाड़ कर कह दे, हम पश्चिम से आगे जायेंगे। हम भेड़ें नहीं, हम उसके 'शेफर्ड' हैं। हमारा मार्क्स जर्मनी का मार्क्स न होगा और हमारा लेनिन लाल रूस का लेनिन न होगा। वह हमारा मार्क्स और हमारा लेनिन होगा। वह हमारे खून-मांस से बनेगा और हम उसे बनायेंगे।

सबमें अपने को देकर और सबको अपने में लेकर, फिर भी अपना एक निजत्व रखनेवाली और सबके बीच अपना

एक सन्देश देती हुई हमारी राजनीति क्यों न चले? क्यों हम अपने को इतना विस्मृत कर दें कि हमें विश्वास न हो कि राजनीति में महात्मा गांधी—व्यक्ति से चिढ़ हो तो धर्म कह लें, नीति कह लें—सम्भव है? हमारा यौवन इसे असम्भव क्यों माने और हमारी भुजाएँ इस महत्वाकाङ्क्षा के पहाड़ का अमृतफल तोड़ने के लिये क्यों न ऊपर उठें। कवि दिनकर की वाणी का चैलेञ्ज हम क्यों न स्वीकार करें :—

ऐसा वीर कहाँ कि शैलरुह फूलों का मधुपान करे?

इस राजनीति की यात्रा में हमारा अचेत, भोला-सा युवक भूल जाता है कि हमारे नीचे पृथ्वी है पर ऊपर आकाश भी है और वह इस पृथ्वी से कहीं विस्तृत है; उसमें ऐसे अनन्त लोक चक्कर खा रहे हैं। क्यों न हमारा क़लेजा उछल कर कहे—हम ज़मीन पर चलेंगे पर आकाश को देखेंगे और आकाश में पहुँचेंगे। यह अधिकार की तृषा! यह शास्त्रार्थ का चैलेञ्ज! यह दूसरों को पाश्चाद्गामी कहने का अहङ्कार! यह बात करने की कला! इन्हें फूँक दो; जला दो। उसकी राख से त्याग और सर्वस्वार्पण का तेज यों उठेगा जैसे मृत्यु से जीवन उठता है; जैसे अन्धकार से प्रकाश उठता है।

और यह राजनीति, जो पश्चिम से आई है और जो कहती है छल करो, कपट करो, जो तुम्हें लुभाती है और

लुभाकर जवानी की उमङ्गों के नाम पर तुम्हारा वह सब सत्व चूस लेती है जो सात्विक का, ब्रह्मचारी का अपना था और जगत् में जिसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता, वह असती है, व्यभिचारिणी है; वह तुम्हारी मनुष्यता की कीमत पर तुम्हें राजनीति सिखायेगी? और तुम उसके आगे घुटने टेक दोगे?

ऐ युवक! याद रख, हम गुलाम हैं और हमारा दिल दुखा हुआ है। हम बना सकें तो कुछ अपना बनालें अन्यथा एक शारीरिक गुलामी के बन्धन तोड़कर हम दूसरी उससे बोझीली सांस्कृतिक और मानसिक गुलामी उठाने का ढोंग तो न करें!

आख़िर यह बेबसी क्यों? इतनी आत्म-विस्मृति क्यों? क्या तुम आदमी नहीं हो? क्या तुम्हारे भेजे में बल नहीं? क्या तुम स्वयं कुछ सोच नहीं सकते? एक दिन दुनिया ने आश्चर्य-चकित होकर तुम्हारी तरफ़ देखा था; तुम्हारे ज्ञान की गहराई में उसने शरण ली थी। आज तुममें इतना दैन्य क्यों है? क्यों तुम अपने को निर्बल और मूर्च्छित मानो—शक्ति का पुञ्ज जब तुममें है!

हम उन लोगों में हैं जो बड़ी बातों में विश्वास रखते हैं और उन बड़ी बातों की पूर्ति के लिए अपने कलेजे में एक तड़प को पाल रहे:हैं किन्तु हम मानते हैं कि आज की हमारी

राजनीति की धारा कुछ ऐसी विषैली हो गई है कि हमें अपने दिमाग को कष्ट देना होगा, अपने विवेक की रक्षा करनी होगी और इस कीचड़ में से कमल निकाल लेना होगा। सागर की छाती चीरकर मोती निकालने होंगे। ऐ भारतीय युवक, जरा गहरा डूब; लहरों में मत बह और अपनी भुजाओं की ओर देख और संसार तेरी तड़प सुने कि "मैं भेड़ नहीं, पथप्रदर्शक बनूँगा!"

: १३ :

जीभ काट लो !

२८ फरवरी, १९३८]

[१]

एक ही महत्वाकांक्षा सम्भव है !

जब कोई कहता है कि युवकों का कहना यह है और वह है तो मुझे क्रोध आता है और झुँझलाहट होती है। दिल में आता है कि ऐसे युवकों की जीभ में, जो मिट्टी के पुतले-से, केवल बहस की चीज़ बन रहे हों और जो सभाओं में बोलकर और बहस कर खुश हों, कोई बिजली की करेण्ट छुला दे। यौवन भी कल्पना और तर्क की वस्तु बनेगा? वह प्लेटफार्मों पर कहता फिरेगा कि मैं युवक हूँ, मेरी पूजा करो? वह अपने कार्यों में सशरीर अपने को प्रकट न करेगा? और वह मज़ाक और दिल-बहलाव का सामान बनेगा?

बहुत दिनों की बात है, कहीं जवाहरलाल ने कहा था—'ख़तरनाक बनकर रहो' (Live dangerously) *। देश भर में युवकों ने इस छोटे-से दो शब्द के वाक्य पर बड़ी खुशी मनाई और तोते-सा उसे दोहराया पर उसका अर्थ कितनों ने समझा? समझते तो क्या इतनी आसानी से हँसी उनके चेहरे पर आती और इतने, जहाँ कुछ रोक नहीं है ऐसे,*

बिना शक्ति के ढुलकते-से शब्द मुँह से निकलते ? तब तो दिल में बेचैनी और आँखों में चमक होती। तब तो पाँव यों पड़ते कि धरती माता की छाती धमक उठती—हाँ, मर्द के पाँव हैं। तब आँखों से ज्योति निकलती, शरीर से आग के शोले छूटते और जीभ बोले कि इसके पहले हाथ और पाँव उसकी भाषा को छीन लेते।

लोग कहते हैं कि युवकों में महत्वाकांक्षा क्यों न हो ? मैं भी कहता हूँ कि युवकों में महत्वाकांक्षा क्यों न हो ? पर कैसी महत्वाकांक्षा ? महत्वाकांक्षा यह कि उनको अधिकार मिले ?—महत्वाकांक्षा यह कि उनका नाम छपे ?—महत्वा-कांक्षा यह कि वे कुर्सियों पर, मञ्च पर दिखाई दें ?—या यह कि उनकी वाणी पर हज़ारों तालियाँ बज उठें ? हाँ, यह भी महत्वाकांक्षा है—बहुतों के लिए; पर इन बहुतों में थोड़ा, असंख्य वनचरों में सिंह-सा, जो चाहते हैं दुनिया में हम हों, उनके लिए नहीं ! उनके लिए ये तुच्छ हैं ! उनके लिए ये बेजान हैं ! उनके लिए एकही महत्वाकांक्षा हो सकती है—सम्भव है उसे सुनकर बोलनेवाले भी थर्रा जायँ—; और वह यह कि उनकी हड्डियों की खाद से दुनिया का चमन लहलहाये और उनकी लाशों पर पाँव रखकर मानवता यों उठे, जैसे जलते हुई स्नेह के बीच दीपक से लौ उठती है !

[२]

यह जिन्दगी है या मौत ?

एक अजीव-सा युग यह आया है। इसने अख़बार निकाले; इसने प्लेटफार्म बनाये; इसने रेलगाड़ियाँ चलाईं; इसने टेलीफोन और रेडियो लगाये पर इन सबके बीच हमें केवल बोलना सिखाया, चलना और उठना नहीं ! इसने हमें आराम दिया पर शक्ति ले ली। इसने जिह्वा की गति तेज़ कर दी परन्तु पाँव को पङ्गु कर दिया। इसने हमारे दिल को गुदगुदाया पर उसकी गरमी गायब हो गई। इसने हमें चश्मे दिये पर आँखों की ज्योति छीन ली !

ऐसे युग में हम रह रहे हैं। खोये और भूले-से। दुनिया के लिए दिल्लगी की चीज़ बने हुए। दुनिया देखती है और हँस देती है। आज हमारे प्लेटफार्म बोलते हैं पर हमारे कार्य चुप हैं ! हमारे समाचार-पत्र भरे हुए हैं पर प्राणशक्ति सो रही है ! यह हमारे जीवन को एक लकवा-सा क्यों मार गया है ? हम चलते हैं तो धरती क्यों नहीं धसक जाती ? हम बोलतें हैं तो श्रोता हँसते हैं—चीखते क्यों नहीं ? हम लिखते हैं तो पाठक बिजली के तार पर अनजान में पड़े पाँव-सा उछलता क्यों नहीं ? हम हँसते हैं तो संसार में प्रकाश क्यों नहीं छा जाता और हम रोते हैं तो दुनिया छाती क्यों नहीं पीट लेती ?

यह ज़िन्दगी है या मौत है ?

कौन इसका उत्तर देगा ?

[३]

उत्तर देने के पहले—

पर ठहरो; उत्तर देने के पहले मैं तुमसे उस देश की दो बातें करलूँ जहाँ जूडा के सिंह आज अपनी मातृभूमि के लिए लड़ रहे हैं; जहाँ सैनिक शेरों को हाथ में पकड़े यों चलते हैं जैसे भारत का शौकीन बाबू कुत्ते को लेकर चलता है। जहाँ पुरुष सिंह हैं तो औरतें दुर्गा हैं! जहाँ की स्त्रियाँ राष्ट्र के सङ्कट-काल में, प्लेटफार्मों पर बराबरी के अधिकार पर भाषण देती नहीं फ़िरतीं वरं रणक्षेत्र में जूझकर मर्दों के लोथ-पर लोटती हुई समता का अधिकार छीन लेती हैं।

हाँ, तो उसी देश की बात है। कुछ पुरानी-सी होगई है। जब, चालीस वर्ष पूर्व, १८९६ में, एबिसीनिया ने इटली को मार भगाया था; तभी की एक जरा-सी घटना है। पर वह प्लेटफार्मों के घण्टों के भाषणों से ज्यादा कह जाती है।

उस युद्ध में खीझे हुए इटैलियन सैनिकों ने एक गाँव पर धावा किया। वहाँ के एबिसीनियन सैनिक मर्द की तरह लड़े पर उनके पाँव उखड़ गये। भागी हुई सैनिक टुकड़ी एक पहाड़ी दर्रे के पास जाकर ठहरी। उस दर्रे के अञ्चल में एक छोटा गाँव और उस गाँव की एक ओर, एकान्त में, एक

एबिसीनियन सरदार का छोटा-सा घर। इस घर के सब लोग मातृभूमि की पुकार पर युद्ध में चले गये हैं। एक कन्या-भर रह गई है।

एबिसीनिया की टुकड़ी के सरदार ने यह सोचकर कि पीछा करती हुई इटली की सेना को कहीं यह लड़की हमारा पता न बता दे, आगे जाने से पहले उसे आगाह कर दिया और यह भी कह दिया कि हमारा पता लगने से देश का बड़ा अनिष्ट होगा। सरदार ने कहा और लड़की के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही, अपनी सेना के साथ हवा हो गया।

दूसरे दिन इटली की सेना ने उस घर को घेर लिया और लड़की से एबिसीनिया की टुकड़ी का पता पूछने लगे। उन्होंने सुना था कि एबिसीनियावाले इसी जगह पड़ाव डाले हुए हैं; उनको न पाकर वे आग हो रहे थे। उन्होंने लड़की को प्रलोभन दिये, डराया पर जब किसी तरह उसने कुछ न बताया तो उस पर अत्याचार करने लगे। यह सोच-कर कि कहीं मेरा मन विचलित न हो जाये, उस लड़की ने चमककर जेब से एक तीक्ष्ण छुरा निकाला और देखते-देखते अपनी जीभ काटकर उनके सामने फेंक दी!

इटैलियन दङ्ग रह गये! खिसियाकर उसपर प्रहार किया और उसे अधमरी छोड़कर चल दिये। दूसरे दिन वह लड़की मरी हुई पाई गई।

[४]

ऐ वेचैन युवक !

यह छोटी-सी घटना हम बात-शूर भारतीय युवक-युवतियों के लिए एक प्रकाश-रेखा-सी मेरे सामने चमकती है। मानो यह कहती है कि काश, तुम्हारे मुँह में जीभ न होती और वहाँ सबल हाथ होते ! देश में भाषण को उत्तेजन देनेवाली सभाएँ बहुत हैं—खुलती भी जा रही हैं। क्या अच्छा हो कि मौन रहना सिखानेवाले शिक्षक हममें थोड़े-से निकल आयें। बोलना उतना ही सरल है जितना चुप रहना कठिन है !

ऐ मेरे भाई ! माना कि तू बहुत अच्छा बोल सकता है। तू प्लेटफार्मों की शोभा है; तू उनपर दहाड़ सकता है। पर युवक ! याद रख, यौवन की भाषा ज़बानों पर नहीं तैरती, अपने साहस से भरे हुए कामों पर उतराती है। वह इतिहास नहीं लिखती, इतिहासों की सामग्री निर्माण करती है। वह जीवन की सुइयों के बीच सतत चमकनेवाले रेडियम की भाँति प्रकाशित होती है। जब आकाश में अनिश्चय और सन्देह के बादल घिर रहे हों वह बिजली की भाँति चमकती है और दुर्गम एवं अस्पष्ट मार्ग को प्रकाशित कर देती है। जब अविश्वास की वाणी में काई और फिसलन हो वह गिरते हुए प्राणियों की भुजाएँ पकड़ लेती है। जब शास्त्रार्थ और विवाद से उभरते दिल बैठ रहे हों तब वह कार्य के मौन में

अपने को प्रकट करती है और ठण्डे बुझते दिलों को गरमी और रोशनी देती है। आज संसार, देश, समाज तुमसे वह कार्य की भाषा चाहता है; जबानी दरियादिली नहीं। ऐ बेचैन भारतीय युवक, क्या अच्छा हो, तू अपनी जीभ काट ले और ठोस सेवा और मर्दानगी के किसी काम में लग जा!

: १४ :

तुम्हें क्या दिखाई देता है ?

२६, जून १९३६]

आज जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति त्रस्त और व्याकुल, किञ्चित् विस्मृत और विशृङ्खल-सा हो रहा है और जब सब लक्ष्य के लिए आगे-पीछे दाहिने-बायें भाग रहे हैं, सबको लक्ष्य के काल्पनिक होने की शिकायत होने लगी है। जो चीज़ यौवन के ठोस मज़बूत हाथों में पकड़ लिये जाने योग्य थी, आँखों में मृग-मरीचिका-सी कौंधती है और दिल बैठ जाते हैं। पाँव थक रहे हैं; आँखें झपक रही हैं। मुँह से बड़े-बड़े शब्द निकलते हैं पर वातावरण में उनकी टक्कर नहीं सुनाई देती। हमारे दिल से तूफ़ान निकलता है—जैसे गेंद फटकर हवा निकल जाती है और गेंद पहिले से ज्यादा बे-दम और शिथिल होकर अपनी ही प्रतिक्रिया की चोट से घायल, निस्पन्द एवं निर्जीव, पृथ्वी पर गिर पड़ती है।

जहाँ देखो एक नई समस्या है। पर असल बात सर्वत्र एक है। राष्ट्र के क्षेत्र में देखो, वही शब्दों की हाट लगी है और जब माल की डिलिवरी देने को कोई तैयार नहीं है उसके रङ्ग-रूप और भाव-ताव पर एक हङ्गामा, एक तूफ़ान खड़ा है। मानो सवाल यह नहीं है कि लक्ष्यवेध कौन करेगा

वल्कि यह कि सबसे ज्यादा जोशीले शब्दों में कौन वोल सकता है। समाज में, साहित्य में, राजनीति में, जीवन के प्रत्यक्ष क्षेत्र में यही बात है। लक्ष्य दूर चला गया है और जव सव कहते हैं कि मैं उसे देख रहा हूँ वस्तुतः सबके मन-प्राण परिस्थिति में लिप्त छटपटा रहे होते हैं !

× × ×

निराशा और अन्धकार की इस भूमिका के विरुद्ध मेरे मानस-क्षितिज पर आज एक प्राचीन कथा आग के अक्षरों में जल और चमक उठी है !

महाभारत काल की कथा है। आचार्य द्रोण राजकुमारों को बाण-विद्या सिखा रहे थे। समय पर शिक्षा समाप्त हुई और राजकुमार आचार्य के समीप परीक्षा के लिए एकत्र हुए। आचार्य उन्हें एक वनस्थली में ले गये और एक वृक्ष के ऊपर वैठी चिड़िया की आँखों की पुतली के लक्ष्यबेध का निश्चय हुआ। आचार्य ने सबको निशाना ठीक करने को कहा और वाद में एक छोटा प्रश्न किया—

"तुम्हें क्या दिखाई देता है ?"

किसी ने कहा, वह वृक्ष की पतली टहनी है; उस पर लाल रङ्ग की चिड़िया वैठी है, उसकी पुतली दिखाई दे रही है। किसी ने कहा, मुझे चिड़िया दिखाई देती है और उसकी आँख में मैं निशाना लगा रहा हूँ। मतलव किसी ने कुछ

जवाब दिया, किसी ने कुछ पर सबको अनेक चीज़ें दिखाई दीं और उनके बीच लक्ष्य साधने की उनकी तत्परता भी दिखाई दी। जब अर्जुन की बारी आई और आचार्य ने उससे यही प्रश्न किया तो उसने कहा—

"गुरुदेव, मुझे सिवाय आँखों की पुतली के और कुछ दिखाई नहीं देता है!"

आचार्य ने शिष्य की पीठ ठोंक दी और आशीर्वाद दिया!

× × ×

यह चन्द लाइनों में कही जा सकनेवाली घटना जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं का हल हमारे सामने रखती है। जला दो, ध्यान बँटानेवाली पश्चिम की बड़ी-बड़ी पोथियाँ! ऐ विद्यार्थी, और ऐ युवक! भूल जा आँखें खोकर अध्यापक बने हुए लोगों द्वारा पढ़ाये जानेवाले दुनिया भर के सिद्धान्त। अपने देश के महाग्रन्थ की यह छोटी-सी कथा तू अपने दिल में बैठाले। क्या यह जीवन की सफलता का एकमात्र उपाय नहीं बताती? क्या इसमें उस निराशा के अन्धकार के परदे को छिन्न-भिन्न कर देने की शक्ति नहीं जो तेरे जीवन पर छाया हुआ है और जिसने तेरे लक्ष्य को तुझसे सदा दूर कर रखा है? आचार्य द्रोण याने लक्ष्य-वेध का शास्त्र बताने वाला गुरु; अर्जुन अर्थात् लक्ष्य में तन्मय साधक—जिसे कुछ

और दिखाई नहीं देता; जो सब कुछ भूल गया है; अपने को भूल गया है; अपने चारों ओर जो कुछ है सबको भूल गया है और लक्ष्य में तिरोहित है, जैसे साधन साध्य बन गया हो!

× × ×

यह एक छोटी-सी कथा है, जिसे कहने में मुश्किल से दो मिनट लगेंगे पर यह एक चिरन्तन कथा है। यही समग्र जीवन की कथा है। यह समस्त मानव-जाति के विकास की कथा है। इसमें समस्त जीवन-दृष्टि है—वह दृष्टि जो आती है तो अन्धकार प्रकाश बन जाता है और मृत्यु जीवन। यह कथा कहती है कि सफलता का एक ही मूल मन्त्र लक्ष्य में तन्मयता है। जबतक तुम्हारे सामने लक्ष्य भी है, और चीज़ें भी हैं तबतक सफलता न मिलेगी। सफलता के लिए तुम जिधर देखो लक्ष्य ही दिखना चाहिए। जब दुनिया तुम्हारी आँखों से ओझल हो जाय, शब्द तुम्हारी ज़बान से लुप्त हो जायँ, इन्द्रियों का एकीकरण हो—और दुनिया में कुछ न हो, तब तुम यों उठोगे जैसे सूर्य अन्धकार को फाड़कर उठता है।

× × ×

ऐ यात्री! जीवन की मञ्ज़िल की दूरी की शिकायत तुझे क्यों है? मञ्ज़िल तो प्रति पग पर है पर तेरा ध्यान तो विविधताओं में उलझा हुआ है। तू अपने अत्यन्त निकट

की चीज़ को देख नहीं पाता है । तू दीवाना बन, कपड़े फाड़, दिल का दिया जलने दे और उस प्रकाश में, उस आग में सब कुछ जल जाने दे । यह है और वह है—मतलब तेरी आँखों में जो एक विविधताओं से भरा संसार बसा है उसे निकालकर फेंक दे; इधर-उधर न देख, अपने को, अपनी परिस्थिति को भूल जा और देख केवल लक्ष्य है और कुछ नहीं है !

× × ×

अब तीर उठा और लक्ष्य को वेध ले !

: १५ :

उनका क्रिसमस : हमारी विजया

२१ अक्तूबर, १९२८]

क्या कहते हो ? तुम विजया मनाओगे ?

पर किस बात की विजया ? हमारी आज जो दशा है उसमें राम और कृष्ण की लम्बी-चौड़ी बातें क्या अच्छी लगती हैं ? वे समुद्र बाँधनेवाली भुजाएँ कहाँ हैं ? वह राम आज कहाँ हैं जिन्होंने कर्तव्य के लिए साम्राज्य को यों छोड़ दिया जैसे वृक्ष नये जीवन के अभिनन्दन में जीर्ण पत्तों को छोड़ देता है ? और वह सीता, जिसने कम्पित-हृदय राम को डाँटकर कहा था—

मेरे पिता ने आपको पुरुष वेश-धारी स्त्री समझकर मुझे आपके हाथ नहीं सौंपा था !

आज कहाँ है ?

तब ये स्वाँग किसलिए ? यह स्पर्द्धा किस बात की ? यह तमाशा क्यों ? क्या ये अच्छे लगते हैं ? क्या ये कलेजे में छुरें की तरह नहीं चुभते ! हाय ! यदि तुम इसे समझ सकते—!

वे दिन नहीं हैं; वे बातें नहीं हैं ! दिन आते हैं चले जाते हैं। हमारे दिन अपने नहीं, हमारी रातें अपनी नहीं। वसन्त हमारे लिए सूना है; शरद की चाँदनी हमारे लिए अन्धी है; सावन की मधुवर्षा हमारे लिए व्यङ्ग है। किस

हौसले पर हम इनका आनन्द लेंगे ? खुश होकर चहकने योग्य हमारे पास अपना है क्या ?

क्रिसमस और ईस्टर में अंग्रेजों और युरोपीय युवकों एवं युवतियों को मिलते-हँसते देखता हूँ तो न जाने कैसा लगता है ! कैसा तेज, कैसा आनन्द है इनमें ? अभी तुर्की और चीन के स्वतन्त्रता-दिवस के चित्र पत्रों में देखे थे। हज़ारों युवक खड़े थे; उनके मुख पर वह ज्योति थी जिसकी व्याख्या गुलामों की कलम नहीं कर सकती। सोचता हूँ, ये भी तो मनुष्य हैं; इन्हें भी तो हमारे ही जैसे हाथ-पाँव हैं ! फिर क्या हो गया ? वे क्यों हँसे, हम क्यों नहीं ?

सोच-सोचकर कितनी ही बार एकान्त में वह हँसी हँसने की चेष्टा की है; पर न हँसी गई—नहीं हँसी जाती। जैसे मूल में ही, हृदय के तत्त्वों में ही अन्तर मालूम पड़ता है। उनके चेहरे पर स्वतन्त्र राष्ट्र का चित्र है; हमारे मुख पर हमारी गुलामी की काली रेखा है। मनुष्य में कैसी समता है, पर अवस्था एवं परिस्थिति में कैसा भेद है !

तब कैसी विजया मनाओगे ?

जो हँस नहीं सकता, जो गर्दन उठाकर, आँख से आँख मिलाकर साहसपूर्वक हृदय की बातें जबान पर नहीं ला सकता, उसके लिए विजया क्या और अजया क्या ?

× × ×

उस दिन क्रिसमस में देखा! कलकत्ता की चौरङ्गी*, इस भारत में भारत से भिन्न कैसी एक चीज़ मालूम पड़ती थी! कैसा उत्साह था! मुट्ठीभर आदमी करोड़ों भेड़ों के देश में कैसे खुश थे! ईडन गार्डन की बेञ्च पर बैठा था और झर-झर आँसू गिर रहे थे। उस दिन जो कुछ डायरी में लिखा था, उसे आज तक देश के आँसू मिटा न सके :—

"एक ये हैं; एक हम हैं! इन्हें देखो, ये आदमी हैं! और हम?—अपने विपय में क्या कहें! क्या इन्हें हम समझेंगे? आकाश में उड़नेवाली प्रसन्नता और प्रकाश से रह-रहकर जुगनू की तरह चमकनेवाली वे आँखें देखिए! इधर सूनेपन की असमर्थ कातरता से भरी हमारी आँखें! उधर कैसी एक बिजली है; इधर कैसा एक सर्वग्राही अन्धकार है! उनके गालों की सुर्खी में स्वतन्त्र जाति का मानसिक आह्लाद खेल रहा है; उसे देखता हूँ तो मन करता है, गर्दन झुका लूँ और लाखों बरस तक न उठाऊँ। गुलामों के तामसिक उच्छ्वास और स्वतन्त्र जाति के राजसिक एवं तेजोमय आनन्द की क्या तुलना? उनका क्रिसमस और हमारी विजया! दोनों में कैसा अन्तर है?

पर कौन इसे सुनेगा? कौन इसे समझेगा?

---

* कलकत्ते का एक अंग्रेजी मुहल्ला।

: १६ :

आह्वान

('त्यागभूमि', आश्विन १९८५)

सुनो, राष्ट्र की नवीन शक्तियो ! सुनो। ओ युवको ! जगो, उठ खड़े हो—संसार को अपने सौन्दर्य से, माधुरी से नहला देने के लिए ! स्वतन्त्रता की गति में खड़े हो और विजय की स्फूर्ति में प्रयाण करो। दलित मानवता की मुक्ति तुम्हारे अन्दर छिपी है ! पतित, पद-दलित तुम्हें देख रहे हैं। मिलकर उनके उद्धार के लिए खड़े हो जाओ ! ओ राष्ट्र के हज़ारों ईसा और बुद्ध ! तुम्हें मानवता की पीड़ा को आश्वासनमयी भुजाओं में बाँधना चाहिए। जगो, उठो और गरीबों, पिछड़े पथिकों, दलितों और भूपतित जनों के कन्धों से कन्धा मिलाकर खड़े हो जाओ ! तुम्हें प्रत्येक वस्तु विनय-पूर्वक ग्रहण करनी होगी, तुम्हें प्रत्येक काम सेवा-भाव में ओत-प्रोत होकर करना होगा ! तुम्हारे लिए गोरी और रङ्गीन जातियों में कोई भेद न होना चाहिए; तुम्हारे सामने ख़ास ब्राह्मणों और परित्यक्त अछूतों में कोई अन्तर न पड़ना चाहिए। सेवा तुम्हारा साधन, प्रेम तुम्हारा लक्ष्य हो ! जिस वस्तु को तुम स्पर्श करो, एक कवि, एक प्रेमी की जादू-भरी अँगुलियों से स्पर्श करो और उसे चिर-सुन्दर एवं

आनन्दमय बना दो । तुम्हारे भीतर-बाहर कहीं द्वेष-दम्भ की कलाएँ गतिमान न हों ! जहाँ गरीब हों; जहाँ कुचले, दबे हुए जन चीख रहे हों; जहाँ पतित और परित्यक्त—चाहे वे मनुष्यों में हों वा जातियों एवं राष्ट्रों में—हों, वहाँ उनकी सहायता करने, उनको अनुभव करने, उनको ग्रहण एवं स्पर्श करने तथा उनको रोग-मुक्त करने के लिए तुम अवश्य विद्यमान रहो । गतानुगतियों को कुचल दो; हृदय में सच्चे विश्वात्मवाद को जगने दो—वह विश्वात्मवाद जो 'मानव-जीव' (Human Creature) के पीड़ित, कराहते अङ्गों की मरहम-पट्टी कर सके । तुम्हें रीति-गत पाखण्ड के विजयोन्मुख प्रभावों से ऊपर उठना होगा । दूसरों के लिए सब कुछ सहो; अपने लिए किसी को दुखी मत करो । मुक्ति तुम्हारी कीर्ति बने, स्वतन्त्रता तुम्हारी आत्मा बने ! सर्वग्राही, सर्वमय प्रेम तुम्हारा अस्त्र हो !

उन गन्दी और बदबूदार कोठरियों, माँदों से,—जहाँ पीड़ित स्त्रीत्व घनीभूत शर्म और अपमान की चोटों से घायल कराह रहा है,—सैकड़ों आँखें तुम्हारी ओर लगी हुई हैं । ताज़ी तोड़ी कलियों-सी निर्दोष लड़कियाँ, जिनकी छाती किसी दिन 'माता' के पवित्र और गौरवपूर्ण सम्बोधन से फूल उठती, तुम्हारी ओर देख रही हैं ! रोते हुए हज़ारों बच्चे, अपने विद्रोहोन्मुख पेट के कारण छटपटाते और सोचते हैं—'ऐसा क्यों ?' ओ हमारी जाति के मसीहाओ ! वे तुम्हारी

खोज में हैं—तुम्हारी तलाश कर रहे हैं! तुम्हें उनको अपनाना होगा!

घृणा और पाप के बोझ से, स्वार्थमय सैनिकता के प्रभावों के नीचे, दुनिया दबी जा रही है—त्राहि-त्राहि कर रही है। बोझ को गिराने और बेड़ियों को चूर-चूरकर उसकी रक्षा करने के लिए तुम्हें ऊपर उठना होगा! पापी की रक्षा के लिए पाप तुम्हारा निशाना बने! मिलकर खड़े हो और मिलानेवाली कड़ियाँ बन जाओ—राष्ट्रों और साम्राज्यों के मध्य नहीं, वरन् मनुष्य मनुष्य के बीच!

हे जगत् की, हे राष्ट्र की, सुख-शान्ति और संस्कृति की आशा के प्रकाश-स्तम्भो! आज ईर्ष्या-द्वेष, परत्व-निजत्व और दमन एवं दुर्बल-पीड़न के अथाह सागर में विश्व-जलयान भटक रहा है। तुम देखो, कोई 'आइसबर्ग' (बर्फ़ की गति-शील चट्टान) इसे टक्कर में आत्मसात् न कर ले!

हे विश्व की अनेक संस्कृतियों की धरोहर! कहीं तुम स्वयं न डूब जाना। याद रक्खो, तुम दूसरों के लिए हो। तुम्हारी समाधियों पर दूसरों के जीवन-पुष्प लहलहायेंगे!

उठो! खड़े हो!! झण्डा उठाओ और दुनिया को विजय की वेदी तक पहुँचा दो!